TIGHT BINDING BOOK

TEXT FLY WITHIN THE
BOOK

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178018
UNIVERSAL LIBRARY

अम्बपाली

लेखक

रामरतन भटनागर, एम्० ए०

किताब महल

इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण, १६४५

सर्वाधिकार प्रकाशक द्वारा सुरक्षित

प्रकाशक:—किताब महल, इलाहाबाद

मुद्रक:—मगनकृष्ण दीक्षित, जगत प्रेस,

इलाहाबाद

समर्पण

अनेक साहित्यिक मतभेदों के रहते हुए जिनसे मुझे हमेशा स्नेह, सलाह और उत्साह मिलते रहे हैं और जिनकी एकांत साधना को मैंने आश्चर्य और गर्व से देखा है, उन्हीं हिंदी की श्रेष्ठ शक्ति श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को मैं यह अपनी पहली कृति भेंट करता हूँ।

'हसरत'

कृष्णकुंज,
कटरा, प्रयाग।
१५ जुलाई १६३६

भूमिका

प्रत्येक युग अतीत को अपने ढंग से देखता है। ऐतिहासिक वस्तु एक रहते हुए भी इतिहास के किसी एक काल का विवेचन प्रत्येक युग में नए ढंग से किया जाता है। बात यह है कि इतिहासकार अपने समय की समस्याओं के अध्ययन से अतीत में पैठने का एक नवीन दृष्टिकोण पा जाता है। जो बात इतिहास के विद्यार्थी के ऊपर लागू है वही एतिहासिक-उपन्यासकार पर भी लग जाती है। मैंने यही बात अपने सामने रक्खी है।

इस उपन्यास में मैंने बुद्ध के समय का चित्रण किया है। इसके ऊपर वह रंगीन आवरण नहीं है जिसे रोमांच-लेखक पिछले युग पर डाल देते हैं। कथा का केन्द्र वैशाली है। यह हमारा अंतिम प्रजातंत्र राष्ट्र था। आज जनतंत्र की माँग है। इस नाते यह उपन्यास आपको रुचेगा। आप प्राचीन भारत के एक जनतंत्र से परिचित होंगे।

स्थान-स्थान पर जो पाली शब्दों का प्रयोग है, उसे आप संदर्भ से समझ सकेंगे। उन शब्दों की व्याख्या करना मुझे उचित नहीं लगता। इसी तरह शुभा और प्रकृति के पूर्व-जीवन के संबंध में मैंने संकेत करके छोड़ दिया है। इससे कथा-वस्तु में बाधा नहीं पड़ेगी। यदि आप उनके संबंध में उत्सुक हों तो बौद्ध-साहित्य में आपको उनका विशेष परिचय मिलेगा। वे मेरी प्रधान पात्रियाँ नहीं हैं। मेरा उद्देश्य अंबपाली के जीवन के परिवर्त्तन और बुद्ध के समय का निरुपण करना रहा है।

लेखक

अम्बपाली

पहला परिच्छेद

आधार-स्तम्भ पर मदिरा का पात्र रखते हुए अम्बपाली ने करवट ली। झीने रेशमी कपड़ों के भीतर से उसके सुगठित अङ्गों की रेखाएं समुद्र की बड़ी हिलोरों की तरह उठकर क्षण भर में शांत हो गईं।

उसने मुस्कराते हुए कुमार गुप्त को देखा। वह उसी की ओर देख रहा था।

वह उससे पहले जाग गया था!

मोतियों की झालर में होकर बाहर का नीला आकाश दिखाई पड़ता था, वहाँ नया दिन जन्म ले रहा था।

उसे याद हो आया—आज बसंत का पर्व था, वह आज नगर की स्वामिनी थी। पिछले दस वर्ष से वैशाली के युवकों ने इस दिन उसके मीनाक्षी पताका से सुसज्जित चाँदी के रथ को हिरण्यगर्भ के मन्दिर तक खींचा था। आज उसकी विजय का दिन था।

पार्श्व में से किसी ने वीणा पर झंकार दी।

यह उसके जागने का समय था। वीणा के मंद स्वरों में उसे गीत सुनाकर जगाया जाता था।

कोई गा उठा।

एक नीले, झालर लगे, परदे को हिलाते हुए बसंत के पवन ने शयन-कक्ष में प्रवेश किया।

कुमार गुप्त ने कहा—"आज बसंत का पहला दिन है। मैं मधुपव की रानी को बधाई देता हूँ।"

अम्बपाली ने उसकी ओर किञ्चित हास्य से देखते हुए कहा—"धन्यवाद ! आज मुझे दिन भर छुट्टी नहीं मिलेगी...।"

पार्श्व का नारी कंठ मलय के साथ कक्ष में झूमता हुआ आया।

अम्बपाली ने तकिये के सहारे चन्द्राकार झुक कर अँगड़ाई लेते हुये कहा—"यह चन्द्रसेना गा रही है।"

कुमार गुप्त के लिये यह नया नाम था, सहसा उसे यह ज्ञात पड़ने लगा कि उस स्वर में एक विशेष प्रकार का आकर्षण है जो उसे खींच रहा है। गीत में निषाद को छूते हुए मन्द्र सप्तक के सारे स्वर आरोह-अवरोह में चढ़ उतर रहे थे। कोई औढ़व राग था।

उसने सिर उठाया तो अम्बपाली सामने के एक चित्र को देख रही थी। वह उसे नगर के सबसे श्रेष्ठ चित्रकार सत्यकाम समर्थ का उपहार था—चित्र उसी का था। पाँच वर्ष पहले आज ही के दिन वह इस कक्ष में आया था। कुछ पुरानी स्मृति हो आई और वह मुस्करा दी। कुमार गुप्त ने इसकी ओर ध्यान दिया। वह विजय और गर्व की हँसी थी—उसे चित्रकार का ध्यान हो आया।

एक बड़े बजड़े के ऊपर कई महीनों दोनों साथ रहे थे। कुमार गुप्त राजगृह से आ रहा था। इसी बजड़े पर उसकी सत्यकाम से भेंट हुई थी। राजनीति पर बात छिड़ी हुई थी। कुमार गुप्त ने कहा था—"राजगृह में जो ऊपरी शांति के चिन्ह देख पड़ते हैं उनके नीचे एक भयंकर अशांत ज्वालामुखी देख रहा हूँ। बिम्बसार के हाथ दुर्बल हैं। स्वयम् युवराज अजातशत्रु ने अपना एक गुप्त संगठन बना रक्खा है।"

एक व्यक्ति ने कहा—"यह मैं मानता हूँ.........हो सकता है आप ठीक तथ्य को पहुँच गये हों। मुझे स्वयम् युवराज की ओर से थोड़ा भय है।" "वृज-संघ ने मल्लों से प्रार्थना की है कि वह राजगृह के सैन्यसंचालन पर ध्यान दें और दोनों गणतंत्र आक्रमण के समय परस्पर सहायता दें"—यह एक नवयुवक ने कहा—

"यह तो हमें विश्वास नहीं होता कि गणतंत्र पर आक्रमण होगा,"—कुमार गुप्त ने युवक को लक्ष्य कर के कहा।

युवक ने पीछे छूटती हुई राजगृह की ऊँची पहाड़ियों और उन पर बने ध्रुव-निर्देशक यंत्र को देखते हुए एक निश्वास छोड़ कर कहा—"आप गणतंत्रों के विषय में विशेष नहीं जानते।"

कुमार गुप्त ने पूछा—"क्या आप वैशाली से आ रहे हैं ?"

"हाँ, कुछ दिन पहले मैं वहाँ था।"

फिर उस युवक से कुमार गुप्त का विशेष परिचय हो गया। उसका नाम सत्यकाम समर्थ था। उसने तक्षशिला में चित्र-कला की शिक्षा पाई थी। वह वैशाली से लौट रहा था। उस समय वह अम्बपाली का यही चित्र बना रहा था जो इस समय कुमार गुप्त के सामने था। लगभग १० दिन वे बजड़े पर रहे और उसी समय यह चित्र समाप्त हुआ था। इस चित्र से कुमार गुप्त की कितनी कुछ स्मृतियों का सम्बन्ध था।

फिर यह चित्र अम्बपाली के पास कब और कैसे आया, वह नहीं जानता था। हाँ सत्यकाम इसके विषय में कुछ अधिक नहीं कहा करता था। यह अवश्य कि कुमार गुप्त ने पहले-पहल अम्बपाली का नाम नहीं सुना। वैशाली के लिये तब वह विदेशी था।

परिचायिका ने शयन-गृह में प्रवेश करते हुये कहा—"वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी की जय हो। आज मधुपर्व है..................।"

अम्बपाली ने हँसते हुये उत्तर दिया—"सुनन्दा, तू बड़ी चतुर है। जा, चन्द्रसेना से कह कि शृङ्गार भवन को ठीक रक्खे !"

सुनन्दा मुड़ने लगी थी कि बाहर सहनाई बज उठी और उसी समय प्रतिहारी ने ऊँचे स्वरों में कहा "मधुपर्व की बधाई के लिये सामंत-युवक प्रकोष्ठ में उपस्थित हैं।"

अम्बपाली ने कहा—"सुनन्दा !"

सुनन्दा रुक गई। अबकी बार कुमार गुप्त की ओर देख कर वह मंद मुस्कराई।

अम्बपाली ने कहा "सुनन्दा देख सामंत-पुत्रों को कह कि अम्बपाली उनके अनुराग-प्रदर्शन से बहुत प्रसन्न है। वह रथयात्रा के समय की प्रतीक्षा में तैयार रहेगी। वे जा सकते हैं।"

सहनाई बज रही थी। सुनन्दा कक्ष से चली गई थी अम्बपाली ने कुमार गुप्त को देखा उसने कहा—"कुमार गुप्त जीवन का लक्ष्य जानते हो ?"

"जीवन का लक्ष्य सुख और शांति" कुमार गुप्त ने मुस्कर दिया।

"तृप्ति और उल्लास, विजय और वासना" अम्बपाली ने कहा।.........वह कुमार गुप्त के पास जाकर बैठ गई उसकी काली केश-राशि कुछ अस्त-व्यस्त हो रही थी। झूमती हुई लटों को हाथों से ऊपर उठा कर उसने विजय की दृष्टि से कुमार गुप्त को देखा। "जीवन के इस चक्र पर चढ़ना और उतरना—यह बात सत्य है, कुमार गुप्त, परन्तु अम्बिका

न चढ़ना जाना है, उतरना नहीं। उसने गौरव के मध्याह्न के सूर्य को तपते देखा है। आज का दिन उसके वर्ष भर के सौभाग्य का सूचक है।"

कुमार गुप्त ने उसके अधरों पर अपने अधर धर दिये। देर तक वह उसे प्यार करता रहा।

सहसा बाहर फिर जनरव तीव्र हो उठा। सहनाई की असावरी की गत के ऊपर अम्बपाली ने उसे सुना। वह कुमार गुप्त के भुजापाश से छूट कर निकल गई। उसने अपने वस्त्र को ठीक किया और चन्द्रसेना को पुकारा।

चन्द्रसेना ने प्रवेश किया।

सोलह-सत्रह की युवती, चंपा की नई खिली कली, एक विषाद पूर्ण आभा उसके मुख पर।

"चन्द्रसेना, तुम्हें आज कुमार गुप्त के पास दिन भर रहना होगा।" उसने मंद मुस्कराते हुये कहा—"यह मेरे सब से प्रिय अतिथि हैं।"

चन्द्रसेना ने कुमार गुप्त की ओर दृष्टि डाली, फिर स्वामिनी की ओर। कहा—"जो आज्ञा।"

"कुमार गुप्त को मेरी अनुपस्थिति अखरेगी," जैसे उसने स्वगत कहा हो, अम्बपाली ने कहा, "परन्तु कोई दूसरा मार्ग नहीं ....कुमार गुप्त, क्या तुम रथयात्रा का उत्सव देखने हिरण्यगर्भ के मन्दिर न पहुँचोगे—मैं प्रसन्न हूँगी।"

चन्द्रसेना की ओर देखते हुए उसने कहा, "अब मुझे तैयार होना चाहिये। चलो चन्द्रसेना। तुम्हारा नाम बड़ा सुन्दर है।"

———

दूसरा परिच्छेद

"विजय वर्म ! मेरा रथ तैयार करो"

विजय वर्म बाहर प्रकोष्ठ से होता हुआ रथागार की ओर चला। प्रकोष्ठ में युवकों का जमघट था। उनके हाथ में माधवी और यूथिका की मालाएँ झूल रही थीं। एक ओर सामन्त-पुत्र परस्पर फुसफुसा रहे थे। उनमें से एक ने जिसके कानों में ताम्रपर्णी द्वीप का एक बड़ा हिमांक जाति का हीरा झूल रहा था, चिल्ला कर उससे पूछा—"विजय वर्म, देवी के प्रस्थान में कितनी देर है।"

विजय वर्म ने उसकी ओर झुक कर अभिवादन किया, फिर वह उसके पास चला गया।

"देवी अम्बपाली शृङ्गार-गृह में गई हैं। मैं इधर रथ सजाने के लिये जा रहा हूँ। आर्यपुत्र बड़ी देर से प्रतीक्षा कर रहे हैं ?......"

उसने पास के एक दूसरे नवयुवक की ओर अभिवादन करते हुए कहा—"श्रेष्ठि पुत्र, आप भी !"

उस नवयुवक ने उसके अभिवादन को स्वीकार करते हुये उत्तर में कहा—"हाँ विजय वर्म, मुझे भी तुम्हारी स्वामिनी की प्रतीक्षा है।"

विजय ने मुस्कराते हुये और बराबर अभिवादन करते हुये प्रकोष्ठ को छोड़ा और बाहर बसे हुये बड्ढकि, थपति, तच्छक, कम्मार आदि श्रमजीवियों के बीच में से होता हुआ वह रथागार में घुस गया। उस समय दिन एक प्रहर चढ़ आया था। सूर्य की किरनें बसंती रंग में रँग कर प्रासादों को आलोक से भरने लगी थीं।

सड़कों पर कोलाहल था। लोग दुकानें सजा रहे थे। श्रेष्ठि और निगम की ओर से स्थान-स्थान पर द्वार खड़े किये गये थे। प्रत्येक द्वार पर एक विशेष प्रकार की कला का प्रयोग किया गया था। बड्ढकों की श्रेणी का द्वार लकड़ी का था; थपतियों की श्रेणी का द्वार सुन्दर पत्थर का, कम्मार श्रेणी का धातु का और इसी प्रकार। तोरणों, बन्दनवारों और मधुघटों से सारा नगर एक अभिनव-वस्तु बन गया था।

सहसा भीड़ में हलचल हुई। लोगों ने मार्ग छोड़ दिया और किनारे हो गये। सेनानी की एक प्रधान अपने सफ़ेद घोड़े पर चढ़ा हुआ उधर से गुज़रा था।

उसने एक छोटा सा चाँदी का तूर्य निकाल कर बजाया। जनता उत्सुक होकर उसके पास बढ़ने लगी। उसने चिल्ला कर कहा—"नागरिकों, एक ओर हो जाओ। अभी परिषद् इधर से आती है। वे लोग हिरण्यगर्भ के मंदिर की ओर जायेंगे। उन्हें कोई असुविधा न हो। सावधान!"

और वह आगे बढ़ गया।

जनता फिर सिमट आई। राजपथ फिर नरमुंडों से भर गया। फिर वही कोलाहल, वही भाग-दौड़।

एक भिक्षु-श्रमण इधर से जा रहा था। उन दिनों वैशाली के बाहर आचार्य प्रबुद्धकेतु ने एक बौद्ध संघाराम की स्थापना कर दी थी और बौद्ध भिक्षुक जनता के लिये नितांत आश्चर्य की वस्तु नहीं रह गये थे। परन्तु उनके विषय में लोगों की जिज्ञासा अधिक जागृत नहीं थी। गणतंत्र होने के कारण जनता राजनीतिक अधिकारों और सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये अधिक सतर्क थी। उसे यज्ञों और ऋणों में विश्वास था। वैशाली में इस एक हिरण्यगर्भ के मंदिर के अतिरिक्त

कई मंदिर थे जिनमें प्रजापति, विश्वदेव आदि देवताओं के सामने यज्ञकुंडों में पशुओं की बलि होती थी।

नागरिकों में से एक ने भिक्षुक को रोक कर पूछा—"भिक्षु, तुम इस मधुपर्व के दिन इतने सबेरे मधुपात्र लेकर क्यों निकल पड़े?"

भिक्षु ने उत्तर दिया—"राजन्य, मैं आचार्य प्रबुद्धकेतु का शिष्य हूँ, उनकी ऐसी ही आज्ञा है।"

उसने फिर पूछा—"यह प्रबुद्धकेतु किसके शिष्य हैं?"

"तथागत के।"

"सिद्धार्थगौतम—शाक्य शुद्धोधन का पुत्र"—एक दूसरे नागरिक ने बढ़ कर कहा।

भिक्षु ने कहा—"हाँ वही। क्या तुमने सुना नहीं, उसने एक घनी अट्टवी में तप किया और मार को जीता? उसने जीवन और मृत्यु के रहस्यों को जान लिया है; वह बुद्ध हो गया है।"

"भिक्षु, तुम्हारा नाम क्या है?"

"प्रव्रज्या के बाद मुझे भदन्त कोश्यालन कहते हैं।"

"क्या तुमने बुद्ध को देखा है?"—पहले नागरिक ने पूछा।

"नहीं", भदन्त ने मृदुहास्य मुंह पर लाते हुये कहा—"मैंने आचार्य के मुँह से उनकी शिक्षा सुनी है। वे धन्य हैं। वत्स, मैं आचार्य द्वारा दीक्षित हुआ हूँ।"

एक अन्य नागरिक ने—जो प्रौढ़ अवस्था का था—उसकी बात के समाप्त होते-होते कहा—"आश्चर्य! मैंने उनका नाम नहीं सुना। यह तथागत तुम गौतम को ही कहते हो। वह अब कहाँ हैं?"

"वह धर्मचक्रपरिवर्तन के लिये निकले हुये हैं, आर्य-भिक्षु भदन्त ने कहा—"मैं उनके विषय में कुछ नहीं जानता।"

इतने में तुमुलध्वनि हुई। कई तूर्यों के बजने के साथ घोड़ों के हिनहिनाने और रथ के पहियों का घर्घर शब्द हुआ—

"परिषद् आ रही है·········भाइयों! नागरिकों! रास्ता छोड़ो।"

भीड़ हट गई थी।

लिच्छिवियों की परिषद् हिरण्यगर्भ के मंदिर की ओर जा रही थी। वहाँ मधुपर्व के अनुष्ठान में भाग लेगी। ७-८ सहस्र राजपुरुष रानियों के साथ रथों पर चल रहे थे।

थोड़ी देर में मार्ग साफ़ हो गया। भीड़ छट गई।

दोपहर होती जा रही थी। लोग फिर इकट्ठे होने लगे। अब अम्बपाली का रथ आया। उस पर चाँदी-सोने का काम था। उसकी चाँदी की पताका पर आँख के आकार की एक मीन उड़ रही थी। रथ के अश्व सफ़ेद थे। उनके माथों पर सुन्दर काला टीका था, और हीरे की बालियाँ उनके कानों में झूम रही थीं। वे बड़े गर्व से चल रहे थे।

अम्बपाली फूलों से लदी थी। सामंत-पुत्र, युवक स्त्री, और पुरुष उसके ऊपर फूल-मालायें फेंकते थे और वह उन्हें स्वीकार करती हुई गले में डाल लेती थी। उसके रथ को पकड़े हुये युवक चल रहे थे।

सब के नेत्र उसी की ओर लगे हुए थे। उसने मीन के आकार की बड़ी बालियाँ पहन रक्खी थी। उसके हृदय पर हीरों का हार था और फूलों की ढेर के अन्दर से पन्ने का बड़ा पदक चमक रहा था। उसके बालों पर मोतियों की लड़ ऐसी जान पड़ती थी जैसे अमावस्या की रात में आकाश-गंगा चमकती हो। उसकी वेणी उसके पीछे फूल जाती थी। श्रम के

कारण कुछ स्वेद-बिन्दु उसके मुँह पर आ गये थे ! परन्तु वह प्रसन्न थी। युवकों के चिल्लाने और मालायें फेंकने पर वह उनकी ओर देखकर मुसकरा देती थी। वह उनकी हृदे-श्वरी थी।

तीसरा परिच्छेद

"बलि के लिये पशु !"

सहसा उपस्थित जनता में से किसी ने कहा—"बलि नहीं होगी।" सब की आँखें उसकी ओर गईं। यह नवयुवक भिक्षु था। यज्ञ के पुरोहित ने ब्रह्मा की ओर देखा, फिर उपस्थित जन-समुदाय की ओर, फिर लिच्छवियों की परिषद् की ओर। पीछे मंदिर के अकाश-चुम्बी सोने के कंगूरे चमक रहे थे। हवन-कुंड की लौ से जैसे वह और दीप्त हो उठते थे।

पुरोहित ने ऊंची आवाज से कहा—"हिरण्यगर्भ के मंदिर में मधुपर्व के दिन यज्ञ और आहुति का यह आयोजन अनादि काल से होता चला आया है। इसको बनाये रखने में ही गण-तंत्र की रक्षा है। कौन कहता है—बलि नहीं हो ?"

सभा में सन्नाटा हो गया।

उस भिक्षु ने कहा—"जीव-हत्या से राष्ट्र की जड़ें दृढ़ नहीं होती, ब्राह्मण ! तथागत ने अहिंसा और करुणा का जो मुक्ति-मार्ग खोल दिया है वह सम्यक् है। जीव-हत्या पाप है।"

"तथागत ?"—कुछ कंठों ने दुहराया—"हम कुछ नह जानते। बलि-पशु लाये जायें।"

"पशु-बलि नहीं होगी। हम भिक्षु अपना रक्त देंगे"—कई भिक्षु कौशेय परिधान में यज्ञ के हवन-कुण्ड की ओर बढ़ने लगे। जनता ने उनका विरोध जारी रक्खा।

"परिषद ! परिषद !"—लोग चिल्लाये—"परिषद विचार करे।"

"यह सब पाखंड है"—यज्ञकर्ता ब्राह्मणों ने उत्तेजित होकर कहा—"ये नास्तिक हैं; वेद निदंक हैं; परिषद इन्हें दंड दे।"

उसी समय युवकों से घिरा हुआ अम्बपाली का रथ आया। यज्ञ-मंडप में कोलाहल मच गया। लिच्छिवियों की परिषद् ने खड़े होकर उसका सत्कार किया। उसे एक ऊँचे आसन पर बिठलाया गया। लोगों ने उस पर मल्लिका और चमेली की फूल मालायें फेंकीं।

थोड़ी देर में सब शांत हो गया।

परिषद के एक सदस्य ने उठकर सब एकत्रित सज्जनों का अभिवादन किया। उसने कहा—"इस समस्या को शीघ्र ही हल होना है। यज्ञों के अनुष्ठान में पशुबलि का विरोध धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। काशी, पाटलीपुत्र, राजगृह और कौशाम्बी से प्रतिदिन विरोध के समाचार आते हैं। यह विरोध शक्ति का विरोध नहीं है! घृणा की बात नहीं है। यह प्रेम का विरोध है। परिषद को मार्ग निश्चित करना होगा।"

सिद्धार्थ गौतम और महायाज्ञिक कश्यप से इस सम्बन्ध में शास्त्रार्थ हुआ था और जैसा आप ने सुना होगा, महायाज्ञिक ने गौतम का आर्य-अष्टांगिक मार्ग ग्रहण कर लिया है।" एक दूसरे राजपुरुष ने उठकर कहा।

पुरोहित ने कहा—"आर्य श्रेष्ठ, इस विषय पर विचार करते हुये यह न भूल जायें कि शास्त्रों ने इस अवसर पर बलि की व्यवस्था की है और गणतंत्र की रक्षा के लिये ऐसा होता आया है। मल्लों के संघ में इस विषय में कोई रोक नहीं है।"

जिस मंडप में लिच्छिवियों की परिषद बैठी थी वह काले पत्थर के एक सौ आठ स्तम्भों का बना था और उसकी भूमि

पर भी काला चौकोर पत्थर काट कर बिछाया गया था। स्वच्छ संगमरमर के सिंहासनों पर राज-पुरुष और उनकी पत्नियाँ बैठी थीं। एक ओर एक ऊंचा सिंहासन था। उस पर सोने की एक बड़ी सी चौकी पर लिच्छिविराज बैठे थे। स्थान-स्थान पर परिचारक खड़े थे।

मंडप में चहल-पहल होने लगी। सब इसी विषय में विचार कर रहे थे।

भिक्षुओं में से एक ने कहा—"लिच्छिवियों की यह परिषद क्या कहती है।"

लिच्छिवि-राज और परिषद के अन्य राज-पुरुषों में इस विषय पर देर तक गवेषणा होती रही। इसके बाद सिंहासन के पास बैठे हुये एक राज-पुरुष ने उठकर कहा—"परिषद को बलि मान्य है। वह इसे स्वीकार करती है कि समय बदल रहा है, परन्तु वैशाली के नागरिकों की यही इच्छा है।"

नागरिकों में से एक भाग ने कई बार चिल्लाकर कहा—"हम जीव-हत्या नहीं चाहते!"

पुरोहित ने कहा—"नर-श्रेष्ठों, यज्ञ की बलि हत्या नहीं होती। एक बड़े कार्य की सफलता के लिये छोटे स्वार्थ को त्यागना ही नियम है। हम बलि द्वारा राष्ट्र के लिये पुण्य का आयोजन करते हैं।"

"निगम और श्रेष्टियों का इस सम्बन्ध में क्या मत है"—एक राजपुरुष ने उठकर पूछा।

"जेट्ठक बोलें।"

महाजेट्ठक ने अपने आसन पर खड़े होकर कहा—"भिन्न-भिन्न श्रेणियों का मत लेने के लिये समय चाहिये।"

सब शांत हो गये। अब क्या हो?

सिंहासन के पासवाले राजपुरुष ने उठ कर कहा—"इस अनुष्ठान के लिए इस समय बलि मान्य रहेगी।"

और साथ ही ब्राह्मणों ने मंत्रोच्चार आरम्भ किया।

बलि पशु लाये जाने लगे।

सहसा पचास के लगभग भिक्षु आगे बढ़ आये। उन्होंने बलि पशुओं का स्थान ले लिया। जनता में कोलाहल मच गया। उस भीड़ में एक गंभीर शब्द सुन पड़ा। आचार्य प्रबुद्धकेतु आ गये थे। उन्होंने ऊँचे स्वर से कहा—"तथागत के पुत्रों, यज्ञ कुंड को छोड़ दो। हमारा अस्त्र प्रेम है। हम शक्ति से पशु-बलि का विरोध नहीं करेंगे। यह सम्भव है कि तुम्हारी हत्या के भय से वैशाली के नागरिक बलि रोक दें, परन्तु यह बात अंतरात्मा की प्रेरणा से नहीं होगी। जिन्होंने तथागत का उपदेश समझा है, उनसे सुनो। यह हिंसा का मार्ग है।"

भीड़ छूटने लगी। भिक्षु यज्ञ-कुंड से हट कर आचार्य के पास लौटने लगे।

आचार्य गंभीर थे। उन्होंने लिच्छिवियों की परिषद की ओर लक्ष्य करते हुए कहा—"लिच्छिवियों की यह परिषद तथागत के धर्म को समझे। आत्मा की उन्नति के साधन बाहर नहीं हैं। राष्ट्र का बल पशुबल नहीं हो सकता। जनता के वर्ग और प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों का पूर्ण ज्ञान हो। वह शुभाशुभ का सम्यक् भेद जाने।"

यज्ञ-पुरोहित ने स्रुवा को ऊँचा उठा कर कहा—"आर्य प्रबुद्धकेतु, तुम्हारा मार्ग वेदों और ब्राह्मणों का मार्ग नहीं है।"

"यह मनुष्य का मार्ग है। इसे हृदय समझता है।" प्रबुद्धकेतु ने मुस्करा कर कहा—"इन निरीह प्राणियों के बलि से

राष्ट्र दृढ़ नहीं होगा। शीघ्र ही महाप्राण बुद्ध यहाँ आयेंगे और तब वैशाली की परीक्षा होगी। प्रबुद्धकेतु उस दिन के लिये जनता को तैयार कर रहा है। तथागत की इच्छा! भिक्षु मेरे साथ लौट चलें।"

चौथा परिच्छेद

वैशाली में संध्या हो रही थी। उसके साथ ही साथ नगर में चहल पहल की भी वृद्धि हुई थी। युवक और युवतियाँ, विशेष कर ऊँचे राजपुरुषों से संबंध रखने वाले, सफ़ेद घोड़ों से जुते हुए रथ पर बैठ कर राजपथों से निकल रहे थे। अन्तरायणों में रंग विरंगे वस्त्र पहरे मनुष्यों की भीड़ थी।

हमारे इस परिच्छेद का सम्बन्ध नगर के जिस भाग से है वह इससे भिन्न है। वहाँ न इतना चमकता हुआ प्रकाश है, न नर-नारियों का जमघट। कभी-कभी इन सूनी-सकड़ी गलियों में जो स्त्री-पुरुष-बच्चे दिखाई पड़ जाते हैं उनको देखने से वे उतने समृद्ध भी नहीं जान पड़ते। कदाचित् यह नगर का वह भाग है जहाँ श्रमजीवी या मछुवे, कसाई, शिकारी, नाई, माँझी, नलकार, कम्मार आदि नीचे, आर्थिक दृष्टि से गिरे हुये, वग के व्यक्ति रहते थे। इसी सकड़े स्थान पर एक आपान अभी नया खुला था। फाल्गुन का अन्त हो रहा था। दुकान पर दिया जल गया था परन्तु उसका प्रकाश अभी बहुत धीमा था। दुकान पर विचित्र प्रकार के भपके और मद्यपात्र रक्खे थे। बाहर बैठने का स्थान था। दुकान पर एक बूढ़ा बैठा था। उसने दुपहर से ही दुकान खोल रक्खी थी, परन्तु वह यों ही खाली बैठा-बैठा ऊब गया था। आज मधुपर्व का त्यौहार था।

श्रमजीवियों को काम काज से छुट्टी थी परन्तु आया कोई नहीं।

कई घण्टे प्रतीक्षा के बाद उसने भीतर की ओर मुँह करके पुकारा—"बेटी सुभागा।"

भीतर से तेज़ स्वर में किसी ने कहा—"क्या है जी! मैं मृग्मद पका रही हूँ, बाबा!"

बाबा ने चिल्लाकर कहा—"कपिल-रुद्र की इच्छा पूर्ण हो! आज कोई नहीं आ रहा है, बेटी।"

"आज सब बड़े मन्दिर गये हैं।"—भीतर से आवाज़ आई—"बाबा, जमदग्गी कहाँ गया है?"

परन्तु बूढ़ा अब तक ऊँघ चुका था। लड़की को उत्तर देने वाला कोई नहीं था। उसने फिर वही प्रश्न किया। कोई उत्तर नहीं। थोड़ी देर बाद उसने दुकान में झाँका। बुड्ढा उसी तरह ऊँघ रहा था। मधुपात्रों पर मक्खियाँ भिनक रही थीं, सारी दुकान मद्य की गंध से भरी थी।

उसी समय गली में एक युवक दिखाई दिया। लड़की को देख कर वह मुसकान में खिल पड़ा। लड़की ने होठों पर उँगली रख कर पिता की ओर इंगित किया और धीरे से द्वार भेड़ती हुई अंदर हो गई। थोड़ी देर बाद वह गली के दूसरे, अधिक निर्जन, भाग में दिखाई दी। युवक पहले ही वहाँ पहुँच गया था।

"शिलाजी"—लड़की ने उसकी ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—"तुमने बूढ़े पर जादू कर दिया है। वह ठीक इसी समय सो जाता है।"

वह मुस्करा दी।

शिलाजी ने उसके हाथ में कोई वस्तु रख कर मुट्ठी बन्द कर दी। लड़की ने उसे हृदय-वस्त्र के अंदर रख कर छिपा

लिया। ऐसा करते हुये उसके वक्षस्थल का एक भाग खुल गया था और उस पर उसके गले में पड़ी रौप्य-माला झूल गई थी। युवक इसे देख कर मुस्करा दिया।

फिर वे उस कोने में और द्वार की आड़ में और अधिक छिप कर खड़े हो गये और धीरे धीरे प्रेम की बातें करने लगे।

इस तरह लगभग एक घन्टा बीत चला। बुड्ढा जागा। उसने चौंक कर खुली हुई दुकान के चारों ओर देखा, बाहर झाँका। विचित्र स्तब्धता थी। उसके मुंह पर विचित्र ढङ्ग से झुर्रियाँ पड़ गईं। उसने भीतर की किवाड़ों से कान लगा कर सुना। भीतर भी उसी तरह निश्शब्द धीरे से किवाड़ ठेल कर अंदर गया। फिर वह चुपके से दुकान में घुसा, जैसे वह अपनी पदचाप से भयभीत हो। उसने चाक घुमाने का डंडा लिया। दुकान में एक ओर चाक भी पड़ा था। कदाचित वर्षों से उससे काम नहीं लिया गया था। जान पड़ता था, कलारी की दुकान खोलने के पहले बुड्ढा कुम्हार था।

गली के उस निर्जन कोने में युवक-युवती उसी तरह बात करते थे। अचानक बुड्ढे ने किवाड़ा ठेला और उन पर जा पड़ा। उसका डंडा युवक के कंधे पर पड़ा जो बुड्ढे के चिल्लाने से घबड़ा कर भागा।

उसको न पाकर बुड्ढा लड़की को पीटने लगा। वह उसे गालियाँ देता जाता था।

"कुतिया........चण्डालिन......कलंकी!"

लड़की ने उद्धत होकर कहा—"बाबा, तुम नहीं हटोगे. हट जाओ सामने से ...।" उसने उसे ढकेल दिया। परन्तु बुड्ढा फिर तेजी से उठा। लड़की चिल्लाती हुई गली के मुख की ओर भागी। उसका स्वर गूँज उठा। उसी समय दो विचित्र-से कपड़े पहरे व्यक्तियों ने गली में प्रवेश किया। बुड्ढे ने

लड़की का पीछा करना छोड़ दिया। वह रुक कर जलती आँखों से उसे देखने लगी।

यह स्पष्ट था बुड्ढा आने वालों से परिचित है और इस परिस्थिति में उन्हें देख कर लज्जित है।

एक ने कहा—"मग्गशिरा, तुम इसे क्यों मारते हो?"

बुड्ढे ने उत्तर में नम्रता से कहा—"अन्नदाता, इसकी चाल ठीक नहीं है। अभी यह उस छोकरे से..........." लड़की ने उसे घूरते हुये जोर से कहा—"वही बात, बाबा... कह दूँ वही बात!"

बूढ़ा पीला पड़ गया। उसने होठों में धीरे से कहा—"चाण्डाल।"

आगन्तुकों की ओर मुड़कर उसने कहा—"पान चाहिये?"

उसके स्वर में व्यवसाय था।

आगन्तुकों में से बड़ी आयुवाला बोला—"यह तुम्हारी कौन है?"—उसने मुड़ कर इशारा करते हुये कहा—"यह लड़की।"

दूसरे ने चूलिका वैशाली में कहा—"इसे बेचने को कहो।"

पहले ने अवज्ञा का भाव दिखाते हुये उसी भाषा में उत्तर दिया—"रहने दो। हमें इसका क्या करना। परन्तु ......हाँ .... देखो तो सही......अरिष्टा से इसकी रूप-रेखा मिलती है, वह जो सेट्ठी को राजगृह के पास अट्टवी में मिली थी।"

दूसरे ने मुस्करा कर कहा—"वह बहुत पहले की बात है।" उसने बुड्ढे की ओर मुड़ कर कहा—"पानागार चलो।"

बुड्ढे ने लड़की की ओर देखा। वह बड़ी उत्सुकता से इन दोनों को देख रही थी। फिर वह दुकान की ओर मुड़ा। लड़की पीछे-पीछे चली, कुछ समय में मकान के भीतर हो गई। बुड्ढा दुकान पर गया।

"कैसा पान? लाज-पान? दाक्खा?"

"कोई भी दो, वृद्ध"—एक ने कहा। दूसरे ने एक कपा-

हरण उसके आगे फेंक दिया। बुड्ढे की आँखें चमक गईं। उसने कहा—"दो ?"

दो पात्र भरे गये।

फिर वैशाली के संबंध में अनेक बातें हुईं। चलते समय बड़े ने कहा—"बुड्ढे, एक सौदा करोगे ?"

बुड्ढे ने आश्चर्य दिखाते हुए पूछा—"क्या ?"

"एक सौदा !"

दूसरे ने कहा—"हमें एक दासी चाहिये,…… यह तुम्हारी कौन है ?"

बुड्ढे ने उत्तर में कहा—"अन्नदाता, यह मेरी बेटी है"

"झूठ"। बड़ा ठहाका मार कर हँसा—"तेरे बाल दस वर्ष से सफ़ेद हैं। (चूलिका में) लड़की सुन्दरी है। यह अच्छी दासी बन सकती है।"

बुड्ढे ने कहा—"ना, मैं झूठ नहीं बोलता ! यह मेरी बेटी है। ओ सुभा !"

सुभागी दूर नहीं थी। वह भिड़ी किवाड़ों में से झाँक रही थी। दो काले भौंरे चमक रहे थे। बड़े ने छोटे को उधर ही ताकते देख कर कहा—"क्यों ? इसे स्त्री बनाओगे ?"

छोटा भद्दे ढंग से मुस्करा दिया। बड़े ने बुड्ढे की ओर झुक कर कहा—"देखो, मेरे पास निष्क है……और सुवर्ण है…… चाहिये"

और छोटे की ओर देख कर, मुस्कराते हुये उसने कहा—"हमें एक दासी चाहिये।"

बुड्ढे की आँखें हर्ष से चमकने लगीं। उसने कहा—"न, न, मैं इसे बेचूँगा नहीं। यह मेरी बेटी……मेरी स्त्री इसकी माता रही है।"

दोनों अविश्वास के ढंग से मुस्कराये। उसने पुकारा—"सुभागा बेटी !" सुभागा ने पट जोर से मारे और शब्द करती हुई भीतर चली गई।

कुछ देर तक बुड्ढे और उन दो मनुष्यों में धीमे-धीमे बातें हुईं और फिर वे चले गये—

यह दोपहर को बात रही। इसी में तीसरा पहर बीत गया।

शाम को बुड्ढे को रतौंधी आ जाती थी। इसलिये वह कुछ पहले से ही, प्रकाश रहते, दिया जला के बैठ जाता। आज भी उसने उसी तरह दिया जलाया। परन्तु उसका मन लग नहीं रहा था।

पाँचवाँ परिच्छेद

वैशाली वृजि-संघ की राजधानी थी। उसके चौगिर्द तिहरा परकोटा था जिसमें स्थान-स्थान पर द्वार और गोपुर (पहरा देने वाले मीनार) बने हुए थे। इन मीनारों पर खड़े होकर कई मील तक आस-पास के राजमार्ग और अटवी दीख पड़ते थे। पहरा देने वाले नगर-प्रतिहारिकों के पास पीतल के बड़े-बड़े सूर्य होते थे जिनको बजा कर द्वार-पालकों को सावधान किया जा सकता था। नगर की रक्षा के लिये नगर-रक्षक रहते थे परन्तु उनका विभाग अलग था। प्रतिहारिकों से उनका कोई संबंध नहीं था। संघ का कोई राजा नहीं था। एक परिषद् शासन करती थी। प्रत्येक ७ वर्ष बाद उसका चुनाव होता। चुने लोग परिषदों में नियम से इकट्ठे होते थे। वे एक साथ बैठते, एक साथ उद्यम करते, एक साथ व्रजि-कार्यों को निबाहते। वे व्रजि-चैत्यों (राष्ट्रीय मंदिरों) और व्रजि-धम (राष्ट्रीय नियम और संस्थाओं) का पालन करते।

नगर में शिल्पियों और व्यापारियों के संघ थे। शिल्पी-संघ श्रेणी कहलाते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्पों की भिन्न श्रेणियाँ थीं। एक-एक में कभी-कभी १००० तक शिल्पी होते थे। प्रत्येक श्रेणी का प्रधान पामोक्ख या जेट्ठक कहलाता था। उसका नाम श्रेणी के नाम पर होता—कम्मार जेट्ठक (कम्मार श्रेणी का जेट्ठक)

मालाकार-जेट्ठक, नलकार-जेट्ठक आदि। थल-जल निय्यामकों और अट्टवी (बन रक्षकों तक की श्रेणियाँ थीं। शिल्प का संचालन और नियंत्रण श्रेणि के हाथ में था। व्यवसायी श्रेणियों का वह संगठन उस समय की समाज का प्रधान अंग था। नगर के भीतर श्रेणियों के कारखाने और बाहरी वस्तुओं के बाजार अलग-अलग होते। श्रेणियों का माल अन्तरायण (अन्दर के भांडारों) में बिकता था। व्यापारियों के भी संघ थे। यह निगम कहलाते थे। इनके मुखिया का नाम सेट्ठी होता। नगर के सब निगमों से एक व्यक्ति चुना जाता। वह नगर-सेट्ठी बनता। उसका पद नगर के राजनैतिक और औद्योगिक जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण था। निगम का गौरव शिल्पियों की श्रेणी से भी अधिक था।

आज नगर सेट्ठी के यहाँ उत्सव था। उसका पुत्र सूर्यमणि तक्षशिला में आन्तेवासिक था, आज वह अपना विद्याध्ययन समाप्त करके लौट आया था। उन दिनों वैशाली से राजगृह, साकेत, शाकल, तक्षशिला होता हुआ एक बड़ा राजपथ मध्य देश से उत्तर-पश्चिम तक चला गया था। वह इसी पथ से लौटा था। उसके साथ उसका मित्र हेमांक भी था। कई नये विद्यार्थी शिक्षा समाप्त करके लौटे थे।

सूर्यमणि सौवीर देश के सुन्दर, ऊँचे अश्व पर चल रहा था। उसका मित्र एक पहाड़ी घोड़े पर था। पीछे कम्बोज के खच्चरों पर भृत्य उनकी पुस्तकें और वस्त्रादि ला रहे थे। उसके साथ-साथ खाली रथ चल रहे थे। प्रभात का समय था। सूरज कुछ उठ आया था।

नगर के बाहर के एक बड़े उघ्यान में नगर-सेट्ठी ने उनका स्वागत किया। नगर के सब बड़े-बड़े प्रतिष्ठित सज्जन बुलाये गये थे। अम्बपाली भी थी।

सूर्यमणि ने घोड़े से उतर कर पिता के चरण छुए। हेमांक ने उपस्थित सज्जनों को प्रणाम किया। सूर्यमणि ने पिता और मित्र-

बान्धवों से मित्र कह कर उसका परिचय कराया। वह चम्पा का नागरिक था। उसका शरीर गोरा, हृष्ट-पुष्ट, लंबा। सूर्यमणि की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली था।

उसने कहा—"यह मेरे मित्र हेमांक हैं। इन्होंने चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया है। यह आत्मा परमात्मा को नहीं मानते।"

और वह हेमांक की ओर देख कर मुस्कराया। हेमांक ने कहा "कौन वस्तु मुझे मान्य नहीं है, सूर्यमणि, यह पीछे बताना। यहाँ से नगर कितनी दूर है?"

नगर-सेट्ठी ने कहा—"हेमांक, तुम मेरे लिए पुत्रवत् हो। मेरे अतिथि भी हो। यही नहीं, तुम सारे नगर के अतिथि हो। तुम हमारे साथ किसी प्रकार का संकोच न करना। तुम लोगों की यात्रा तो निर्विघ्न रही?"

हेमांक ने कहा—"सारा राजपथ निरापद है। केवल एक स्थान पर सेतु टूट जाने से बड़ी असुविधा हुई। क्या आपका संघ राजगृह से मैत्री-भाव नहीं रक्खे है?"

सूर्यमणि ने कहा—"राजगृह में हमने परिषद् के विषय में बहुत सी बातें सुनी। वहां हम एक राजपुरुष के अतिथि थे।"

नगर-सेट्ठी ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह पीछे मुड़ कर उनकी सुविधा के लिये दासों को आज्ञा देने में लगा था। संध्या तक उसी उद्यान में पड़ाव रहा।

सांझ होते-होते वे बड़े समारोह के साथ नगर पहुँचे। उस रात एक बड़े उत्सव का आयोजन किया गया था जिसमें वैशाली के राजपुरुष भाग लेने वाले थे।

भोज हो चुका था। नगर-सेट्ठी के आग्रह से अम्बपाली नृत्य के लिये तैयार हुई। उसके प्रासाद पर दास दौड़ाये गये। वहाँ से नृत्य का सामान और दूसरे कलाकार आये। आज अम्बपाली के साथ कुमार गुप्त भी भोज में निमंत्रित था।

अम्बपाली नृत्य के लिए उठी। उसने मंजीरों पर सम दिया।

एकओर वीणा, दूसरी ओर मृदंग-खड़ताल। फिर उसने उपस्थित सज्जनों को अभिवादन किया। घूम कर उसने चारों ओर देखा, कुमार गुप्त को देखते ही उसके होठों पर एक मंद मुस्कान बिखर गई और उसने नृत्य आरम्भ कर दिया।

अतिथि कक्ष की हवा में संगीत, नृत्य और वाद्य की हिलोरें उठने लगीं। सब मंत्र-मुग्ध हो कर अंबिका की ओर देख रहे थे। सूर्यमणि बराबर हेमांक की ओर प्रशंसा की दृष्टि से देख लेता था। बड़ी देर तक नृत्य होता रहा। उपस्थित सज्जन बराबर प्रशंसा करते।

नृत्य समाप्त करके अम्बपाली ने गाया—"मेरा पक्षी मेरे अड्डे पर आगया है। मेरा प्यारा विदेश से लौटा है।

मैं उसके पैरों में लाल मेंहदी लगाऊँगी और उनमें बड़े-बड़े सोने के छल्ले पहराऊँगी। मैं उसे चुम्बन की डोरी से बाँध कर रक्खूँगी। मेरा हृदय हर्ष से फूल रहा है। क्या तुमने देखा है? मेरा प्रेमी विदेश से लौट आया है।"

यह एक लोकप्रिय गीत था। नगर-सेठ्ठी ने उसे बधाई दी। युवकों ने उस पर हार फेंके। उपस्थित सज्जनों की ओर से एक हीरे का हार भेंट किया गया।

बड़ी रात गये सभा उठी। अम्बपाली जा रही थी। सूर्यमणि ने उसके पास आकर कहा—"मेरे मित्र आपके नृत्य से बड़े प्रसन्न हैं। आपको गुरुजनों के सामने बधाई नहीं दे सके।"

"अम्बपाली ने हँसते हुये कहा—"ओहो! यह बात—तुम्हारे हेमांक? मैं उन्हें निमंत्रण देती हूँ।"

सूर्यमणि ने हेमांक को पुकारा—"देवी अम्बपाली तुम्हें बुला रही हैं, हेमांक।"

हेमांक ने आकर कहा—"धन्यवाद, आप इनकी बात का विश्वास न करिये! सत्य तो यह है, मैंने इस विषय में कुछ भी

ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। हम अभी आचार्य-भवन से आ रहे हैं। हमें अभी बहुत सीखना है।"

अम्बपाली ने मुस्करा कर कहा—"सीखने योग्य अम्बपाली के पास कुछ नहीं है, हेमांक·········परन्तु अम्बपाली का भवन तुम्हारे लिये खुला है। आर्य कुमार गुप्त, आप कहाँ हैं ?"

कुमार गुप्त रथ की ओर बढ़ चुका था। उसने वहीं से पुकार कर कहा—"मैं रथ पर हूँ।"

आधी रात बीत चुकी थी। अम्बपाली ने माथे का झूमर उतार कर कुमार गुप्त के हाथ में रख दिया। खड़े रथ पर चाँदनी में उसकी लटें मस्तक पर झूलने लगीं। उसने प्यार की दृष्टि से कुमार गुप्त को देखा। वह कुछ बोला नहीं।

रथ वैशाली के राज-प्रासादों और राजपथों को पार करता हुआ पश्चिमी द्वार की ओर अम्बपाली के प्रासाद की ओर बढ़ रहा था।

गोपुरों पर तेज उजाला था।

प्रतिहारिक जाग कर पहरा दे रहे थे। प्रासाद के पास एक नगर रक्षक ने पुकारा—"किसका रथ है ?"

विजयवर्म ने उत्तर दिया—"देवी अम्बपाली हैं।"

"देवी की जय हो।"

फिर निस्तब्धता छा गई।

"विशाल सिंहद्वार से प्रवेश करते हुये अम्बपाली ने कहा—"आज चाँदनी कैसी प्यारी लगती है।"

कुमार गुप्त ने उसे सहारा देकर उतारा और उसे उसके कक्ष पर छोड़ कर अपने शयन-भवन में चला गया।

पूनों के चाँद का प्रकाश दूध की नदी की तरह उमड़ कर संगमरमर के धरातल और प्राचीरों पर बह रहा था। उसी समय चन्द्रसेना जाग कर बाहर आई थी। कुमार गुप्त ने उसे देखा—उसका मुँह पीला परन्तु बहुत आकर्षक था। उसके बाल जूड़े के

रूप में बधे थे, और उस पर नई मल्लिका की कलियाँ गूँथ कर लपेटी गई थीं।

वह क्षण भर रुका। फिर उसने कक्ष में प्रवेश किया।

छठा परिच्छेद

एक दिन कुमार गुप्त ने अम्बपाली से घर जाने की बिदा माँगी। उसने कहा—"राजगृह से अच्छे समाचार नहीं आ रहे हैं। अभी मेरा एक मित्र वैशाली आया था। उससे यह पता लगा है कि राजगृह के मंत्रिमंडल और राजा अजातशत्रु में किसी विषय में बड़ा मतभेद हो गया है। प्रधानामात्य बंदीगृह में हैं।—पिता जी स्वस्थ नहीं रहते।"

बचपन से ही कुमार गुप्त की प्रवृत्ति पर्यटन में थी। वह एक स्थान पर रहने वाला मनुष्य नहीं था। ऐश्वर्य से उसे मोह न था। साथ ही विरक्तों से उसे चिढ़ थी। वह जीवन को भोग का बात समझता था।

उसका पिता राजगृह का प्रधान सेना-नायक था। एक छोटा भाई किशोर गुप्त पिता के साथ रहता था। वह महाराज अजातशत्रु का अंगरक्षक था। पिता ने कुमार गुप्त का विवाह करना चाहा परन्तु वह उसके लिये तैयार नहीं हुआ।

"एक बार मैं देश भर का पयटन कर आऊँ"—उसने कहा—"मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, परन्तु मैं इस विषय में शीघ्रता नहीं करूँगा।"

पिता अनुभवी व्यक्ति थे। उन्होंने मुस्कराकर कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा! मैं जब तुम्हारी आयु का था तो मैंने महाराज बिबसार के साथ गान्धार चलने का हठ किया था। उन दिनों के युद्ध को स्मरण करते ही रोमांच हो आता है। अभी उत्साह ठीक ही है।......हाँ, घूम फिर कर थक जाओ तो यहाँ आ जाना।

विवाह करना और मुझे इस पद से मुक्त कर देना। तुम्हारा राष्ट्र तुम्हारी सेवायें चाहेगा। वह भी समय आयेगा, कुमार।"

बूढ़े सेनापति का आशीर्वाद लेकर, आज पाँच वर्ष हुए, कुमार गुप्त राजगृह से निकला। तीन वर्ष से अधिक वह देश-देश घूमता रहा। श्रावस्तु, कपिलवस्तु, अहिच्छत्रा, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, तक्षशिला, गान्धार, रारुक, मरुकच्छ, विदिशा, कलिंग, ताम्रलिप्त और चम्पा होता हुआ—लगभग सारा उत्तर-पथ घूम फिर कर—एक दिन साँझ के समय वह फिर राजगृह में उपस्थित हो गया। उन दिनों राजगृह में राजक्रांति हो चुकी थी। अब अजातशत्रु सिंहासन पर था। उसके सिंहपद* गुप्तचरों का जनता पर बड़ा-बड़ा नियंत्रण था। कुमार गुप्त पिता के यहाँ न जाकर नगर के हीन वर्ग के भाग में ठहर गया था। यह एक प्रकार की सराय थी। उसका उद्देश्य लुक-छिप कर राज्य की प्रगति जान कर तब प्रगट होता था। जीवन का उपभोग करने में, स्वयं रहस्य बन कर, उसे आनन्द आता था। वहाँ एक कम्मार-कन्या से उसका प्रेम हो गया।

यह उसके लिये एक नया अनुभव था। हीन समझी जाने वाली इस जाति की एक कुमारी के प्रति उसके हृदय में गुद-गुदी उठी—यह बात सोच कर उसे कौतूहल और गर्व हुआ। बात बढ़ती गई यहाँ तक कि एक दिन लड़की के पिता और कुमार गुप्त में बड़ी कहा-सुनी हुई और उसे नगर का वह भाग छोड़ देना पड़ा। उसके बाद सिंहपद के गुप्तचरों को उसके विषय में संदेह हो गया और वे छाया की तरह उसके पीछे लगे रहने लगे। एक दिन एक ऐसे ही किसी व्यक्ति के व्यंग पर असन्तुष्ट होकर एक पानागार में उसने अपना खड्ग निकाल लिया था। इस घटना के बाद उसने राजगृह छोड़ना ही उचित समझा। वह उसी रात वैशाली की ओर चल पड़ा।

---

*यह अजातशत्रु के उस गुप्त संठगन का नाम था जिसकी सहायता से उसने पिता को मार कर गद्दी प्राप्त की थी। सिंहपद (शेर का पंजा) उस संगठन का चिन्ह था। अब यह लोग राज्य के गुप्तचर थे।

यहाँ अंबपाली से उसकी भेंट हुई और वह बहुत शीघ्र उसका प्रेम-पात्र बन गया।

मैंने कुछ ऐसे व्यक्ति देखे हैं जिनकी आत्मा पारे या शराब की बनी होती है। वे किसी एक स्थान और किसी एक व्यक्ति से, चाहे वह अम्बपाली ही क्यों न हो, बँध कर नहीं रह सकते। अंधड़ और बाढ़ प्रवाह की तरह वह किनारे तोड़ कर बहना चाहते हैं।

वे कितने स्थानों पर पद-चिह्न छोड़ जाते हैं। परन्तु उन्हें देखने के लिये फिर लौट कर मुड़ते नहीं। कुमार गुप्त ऐसा ही हल-चल प्रिय व्यक्ति था। उसके जीवन का जैसे एक ही मूलमंत्र हो—उत्तेजना या रोमांच।

कुमार गुप्त की बात पर अम्बपाली हँस पड़ी। उसने कहा—"क्या चाहते हो ? वेणी से खुले हुये फूल की तरह झर कर बह जाना ? मैं आज चर को राजगृह भेज कर ठीक ठीक समाचार मंगा लूँगी। मैं थोड़ा जल वायु परिवर्तन चाहती हूँ।"

कुमार गुप्त मुस्करा दिया।

अम्बपाली ने चिन्तित हो कर कहा—"सच कहती हूँ, कुमार गुप्त, मैंने किसी व्यक्ति के लिये इतनी ममता से सोचा-समझा नहीं है। तुम्हारी इस मुस्कान से मैं कष्ट में पड़ जाती हूँ। तुम जीवन को खिलवाड़ समझते हो।"

कुमार गुप्त ने उत्तर दिया—"जीवन को तुम क्या समझती हो।"

अम्बपाली ने कुछ उत्तेजित होकर कहा—"समझती हूँ तुम इस तर्क से मुझे कहाँ ले जाना चाहते हो परन्तु फिर भी हमारे दृष्टिकोणों में भेद है। मैं जीवन को ऐश्वर्य, विलास, प्रेम और मदिरापान समझती हूँ, यही कहलाना चाहते हो तो यही कहती हूँ।"

कुमार गुप्त मौन रहा।

अम्बपाली ने फिर कहा—"किसी का जीवन भरा होता है। वह किसी दूसरे को स्थान नहीं दे पाता। वह अपने में पूर्ण है। किसी का जीवन आकाश की तरह शून्य है। उसमें लाखों उलकापात

होते हैं, सहस्रों ग्रह पिंड घूमते हैं और बासियों ज्योति-चक्र आते और निकल जाते हैं परन्तु वह उन्हें पकड़ नहीं सकता……। समझते हो इसे ?"

कुमार गुप्त ने उसकी ओर निश्वास छोड़ कर कहा—"समझता क्यों नहीं। परन्तु दोनों प्रकार के जीवन अपने ढंग के हैं। उल्का को पकड़ते भी नहीं बनेगा। क्यों ? क्या सोचती हो ?"

अम्बपाली ने चन्द्रसेना को पुकारा। "चन्द्रसेना !"

कुछ क्षणों तक वे मौन ही बैठे रहे। कक्ष का द्वार खुला। यह अम्बपाली का निजी पान-गृह था। यहाँ केवल चन्द्रसेना की पहुँच थी। उसने कहा—"चन्द्रसेना दो गिलास आसव लाओ।"

चन्द्रसेना ने कनेर के फूल के आकार की बनी संगमरमर की तिपाई से उलटी हुई गदा की तरह बना हुआ रेशम की पतली तह में लिपटा, मधुघट उतारा और बिल्लौर के दो पात्रों में आसव भर कर उनके सामने रक्खा। अम्बपाली उसे आसव उँढ़ेलता देख रही थी। उसने कुमार गुप्त की ओर देख कर कहा—"चन्द्रसेना अपना काम खूब जानती है।"

कुमार गुप्त ने एक बार तरल दृष्टि से चन्द्रसेना की ओर देखा। उसके मन में उस दिन की चाँदनी से धुली हुई चन्द्रसेना फूल उठी।

अम्बपाली ने इंगित किया। कक्ष छोड़कर चन्द्रसेना बाहर हो गई।

मदिरा का पात्र कुमार गुप्त के मुँह पर लगाते हुये अम्बपाली ने कहा—"जीवन पर सोचकर माथा दुखाने से अच्छा यह है कि जीवन का उपभोग करो।"

अपने पात्र से उसने मदिरा पी। दोनों पात्र मधु से रिक्त हो गये।

कुमार गुप्त ने झुक कर उसके अधरों को चूम लिया। उसने कहा—"तुम ठीक कहती हो, अम्बिके ? जीवन का उपभोग ही एकमात्र सत्य है।"

इसी समय घड़ियाल बज उठे। रात का पहला प्रहर समाप्त हो रहा था।

अम्बपाली ने उठते हुये कहा—"न जाने आज जी क्यों उद्विग्न है, कुमार गुप्त? आज मैं अशांत हो रही हूँ।······तुम अपने कक्ष में विश्राम करोगे या मेरे?" वह मुस्करा उठी।

कुमार गुप्त भी उठ खड़ा हुआ। उसने उसकी झूलती हुई लटों में दो उँगलियाँ डाल कर कुछ चक्र बना कर छोड़ दिये। वे उसी तरह बाली बनाते हुये झूलते रहे।

वह द्वार पर गया। पीछे मुड़ कर उसने अम्बपाली को देखा। वह सचमुच क्लांत हो रही थी।

उसने कहा—"मैं अपने कक्ष में जा रहा हूँ।"

सहसा अंबपाली ने उसे पुकार कर कहा—"कुमार गुप्त, एक बात सुने जाओ। हम दोनों एक वर्ष से अधिक समय से साथ हैं। मैंने जीवन में कभी भी आवेग और उत्तेजना का अनुभव नहीं किया था। तब तुम आये। मैंने औरों की भाँति तुमसे भी खिलवाड़ करना चाहा। मैं वह नहीं कर सकी। अब मैं ज्वाला में जल रही हूँ। मैं देख रही हूँ, तुम मुझे पूरा-पूरा प्यार नहीं कर पाते। कैसा आश्चर्य है कुमार गुप्त!"

कुमार गुप्त ने बढ़ कर उसका हाथ पकड़ लिया। उसकी चम्पा-सी पतली उँगलियों को आकाश की ओर करके चूमते हुये उसने कहा—"तुम उत्तेजित हो रही हो अम्बपाली। मेरे जाने के प्रश्न ने तुम्हें उत्तेजित बना दिया है। मैं नहीं जाऊँगा।"

अम्बपाली ने सँभलते हुये कहा—"सो बात नहीं है, कुमार गुप्त! तुम जा सकते हो। मैं तुम्हें अब जकड़ कर रखने की चेष्टा नहीं करूँगी।

कुछ रुक कर उसने कहा—"नहीं मुझे तुम ठीक-ठीक समझे नहीं। मैं ठीक कहती थी। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि अम्बपाली नहीं हूँ। मेरा हृदय टूट रहा है। मैं कभी ऐसी नहीं थी, कुमार गुप्त!"

कुमार गुप्त ने उसे छोड़ दिया। उसने मदिरा का पात्र उठाया। मधुघट को झुका कर उसे भरा। अपने हाथों से छूकर वह उसे अम्बपाली के सामने ले गया। उसने मुस्करा कर कहा—"यह तुम्हें ठीक कर देगा!"

हँसती हुई आँखों को उसके मुख पर रक्खे हुये अम्बपाली पात्र खाली कर गई। उसने विचित्र कम्पन और फिर एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव किया।

उसने स्वयम् दूसरा पात्र भरा और क़सीदे कढ़े हुये मलमल के गिल्म पर बैठ गई। कुमार गुप्त भी पास बैठ गया। अम्बपाली के बढ़ाये हुये पात्र से उसने एक-चौथाई अंश पिया। अम्बपाली ने धीरे-धीरे पात्र खाली कर दिया। उसकी वाणी में कम्पन भर गया। परन्तु उसमें एक आश्चर्यजनक तेज और आकर्षण आ गया। उसने कहा—"कुमार गुप्त, जीवन के जो क्षण विलास और उल्लास में बीत जायें, उन्हें ही तुम्हारी अम्बा ने सत्य मान लिया है। यह कौन बतायेगा कि उसने भूल की है? परन्तु यह भी संभव है। फिर संभव क्या नहीं है? प्यास, प्यास! जीवन प्यास है। आग, आग! जीवन आग है। अम्बपाली प्यासी है, अम्बपाली जल रही है।"

वह कुमार गुप्त की गोद में लेट रही। कुछ ही क्षण बाद वह सो गई थी।

सातवाँ परिच्छेद

अम्बपाली के प्रेम-कक्ष में दो-नये व्यक्तियों ने प्रवेश किया था। यों कहिये, कि अम्बपाली ने वैशाली के दो और व्यक्तियों के जीवन में प्रवेश किया। पिछला कथन सत्य के अधिक निकट होगा।

वे व्यक्ति कौन थे?

सूर्यमणि और हेमांक।

दो मित्र ……दोनों धीरे-धीरे परस्पर दूर होते गये और अम्बपाली के अधिक निकट आते गये।

परन्तु, क्या यह पिछला कथन ठीक है ?

सूर्यमणि·········नगर-सेट्ठक का पुत्र। वह कवि था। उसमें स्त्रीत्व की मात्रा अधिक थी। कोमल चम्पा का शरीर। अपने ढंग पर सुन्दर, परन्तु उसमें पुरुषत्व का नाम नहीं। झूलते बाल। मुखर।

हेमांक··· ·····चम्पा के कोषाध्यक्ष का इकलौता पुत्र। वह इस संसार का मनुष्य था। जीवन, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में उसके अपने विचार थे। डील-डौल लम्बा। शरीर, विशेषकर आँखों, में पुरुषत्व और आकर्षण।

अभी तीसरा पहर था। अम्बपाली सो कर उठी थी कि प्रतिहारी ने सेट्ठक-पुत्र के आने का संदेश कहा। वह बिखरे हुये वस्त्र संभालती हुई अतिथि-गृह में चली गई। प्रतिहारी से उसने कहा—"उन्हें ले आओ।"

अकेला सूर्यमणि था। यह बात एक अपवाद थी। अब तक दोनों मित्र साथ आते रहे थे। अम्बपाली को आश्चर्य हुआ। उसने मृदु हास्य से पूछा—"क्यों सेट्ठक-पुत्र, आज तुम्हारे मित्र कहाँ रह गये ?"

हँसते हुये, सूर्यमणि ने उत्तर दिया—"वे आज एक प्रयोग में लगे हैं।······ ··क्यों ? क्या आप आश्चर्य करती हैं ? क्यों ?" वह ठहाका देकर हँस पड़ा।············"मेरा मित्र बड़ा विचित्र आदमी है, देवि अम्बपाली !"

देवी अम्बपाली ने इसे सोफ़े पर बिठलाते हुये कहा—"यह तो आप ठीक कहते हैं। परन्तु वह प्रयोग क्या है, मैं भी तो सुनूँ।"

"उसने एक कुरूप बिल्ली का बच्चा लिया है। कई सप्ताह से वह उसके साथ लगा हुआ है। भाँति-भाँति के अम्ल, भस्म और अवलेह चटा कर उसे सुन्दर बनाना चाहता है।"

"यह उसने तक्षशिला में सीखा है ?"

अम्बपाली हँस पड़ी।

सूर्यमणि ने उत्साह से कहा—"आचार्य श्वेत-पद हेमांक की

बड़ी प्रशंसा करते थे। वह कहते थे, यह अन्तेवासिक चिकित्सा शास्त्र में महान् परिवर्तन करेगा। वहाँ भी वह इसी प्रकार का प्रयोग करता था। सचमुच बड़ा विचित्र है वह!''

अम्बपाली की आँखें अलसाई हुई थीं। उनमें एक अलौकिकता थी। सूर्यकिरण ने इस पर ध्यान दिया। वह इन श्वेत-श्याम-रतनार आँखों पर मुग्ध था।

अम्बपाली ने थोड़े समय के अवकाश के लिये प्रार्थना की। वह कुमार गुप्त के शयन-कक्ष में गई। वह अभी सो रहा था। कहानियों की एक पुस्तक उसके पास पड़ी थी। वह हाथ की लिखी पांडु लिपि थी। ताड़ के पत्रों को सीधा करके किसी विशेष प्रकार का तैल उस पर मला गया था।

सम्भवत: इसी पुस्तक को वह पढ़ता रहा था।

उसने पुस्तक को खोला।

उसने पुस्तक रख दी।

कुमार गुप्त के माथे पर स्वेद के विंदु थे और बाल की एक लट माथे पर आकर चिमट गई थी। अम्बपाली ने अंचल से स्वेद पोंछा और फिर बड़ी सावधानी से वह लट बालों में कर दी। सचमुच वह कुमार गुप्त से किसी भी प्रकार अलग नहीं हो सकती थी। उसके बिना वैशाली अम्बपाली के लिये शून्य थी। उसने झुक कर धीरे से कुमार गुप्त के शिरीष के नये खिले फूल की तरह कुछ खुले होंठ चूम लिये। अम्बपाली के होठों की ऊष्णता और उत्तेजना से कुमार गुप्त विचलित हो उठा। धीरे-धीरे वह शांत हुआ। करवट बदल कर सो गया।

अम्बपाली कुछ क्षण तक उसे देखती रही। फिर वह कक्ष से निकली और पूर्व की ओर के स्नानगृह में जाकर उसने मुँह धोया और स्वस्थ होकर लौटी।

शृंगार-गृह में पहुँच कर उसने धूप-छाँह के रंग का वस्त्र लिया। नीले कंचुक के ऊपर उसे डाल कर वह दर्पण के सामने हुई।......

तो उसका सौन्दर्य किसी भी प्रकार कम न था! आज भी वह वैशाली की सर्व-श्रेष्ठ सुन्दरी थी। गर्व और उल्लास से आँख चमक उठी। हाय रे नारी!

इसी समय चन्द्रसेना ने प्रवेश किया। अम्बपाली अभी भी दर्पण के सामने थी। इसमें कोई विचित्रता भी नहीं थी। परन्तु आज, इस क्षण, न जाने क्यों उसे चन्द्रसेना के प्रति क्रोध हो आया।

उसने पूछा—"क्यों चन्द्रा, क्या कोई और आया है?"

"हाँ देवि"—उसने कहा—"आर्य हेमांक।"

"क्या तुम वहाँ थोड़ी देर बैठ कर उनका मन नहीं बहला सकतीं?"—कठोर होकर उसने कहा—"चंद्रसेना, तुम्हें समय देखना चाहिये।"

वह क्या समय देखे, यदि सोचती तो भी चंद्रसेना निश्चित नहीं कर पाती। उसे स्वामिनी के इस व्यवहार पर आश्चर्य हुआ। उसके गाल आरक्त हो गये।

"पीली लड़की" —जब वह चली गई, अम्बपाली ने सोचा—"ओहा हो!" और वह दर्पण के सामने ठहाका देकर हँस पड़ी।

यह ईर्ष्या की पहली किरण थी।

क्या सचमुच वह इस पीली लड़की से ईर्ष्या करेगी? वह, वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी? जब वह फिर अतिथि-गृह में पहुँची तो संध्या का पहला चरण था। दोनों मित्र चन्द्रसेना से बात कर रहे थे।

अम्बपाली ने हेमांक की ओर लक्ष्य करते हुये कहा—"मुझे भय है, मैंने बड़ी प्रतीक्षा कराई।"

हेमांक ने सरल ढंग पर कहा—"नहीं, कुछ भी प्रतीक्षा नहीं हुई। हम मित्र चंद्रसेना से बातें कर रहे थे।"

'मित्र' शब्द पर उसने विशेष बल दिया था। लक्ष्य सूर्यमणि पर था। जिसने इस पर ध्यान दिया और लाल पड़ गया।

अम्बपाली ने मुस्कराते हुये कहा—"तो आप कुछ विचित्र प्रयोग कर रहे हैं।" वह बैठ गई। चंद्रसेना ने धीरे-धीरे कक्ष छोड़ दिया।

हेमांक अट्टहास कर पड़ा। उसने विचित्र दृष्टि से अम्बपाली को देखा, फिर सूर्यमणि को। "यह मेरे मित्र ने कहा होगा।" (फिर 'मित्र' पर बल) उसने कहा—"देवि अम्बपाली, हमारा जीवन स्वयम् एक बड़ा प्रयोग है। यह आप, मैं, मेरे मित्र (उसके होंठ कुटिलता से मुड़ गये) क्या कर रहे हैं? एक प्रयोग ही, या कुछ और? ऐसा ही प्रयोग मैं कर रहा हूँ। दिशा दूसरी है। कर एक ही काम रहे हैं।"

अम्बपाली ने मुस्करा कर कहा—"आपको, क्षमा कीजिये महाशय, विचित्र बनने में आनन्द है। यही न?"

बात हेमांक को लगी। परन्तु वह बहुत शीघ्र सावधान हो गया। गंभीर होकर उसने कहा—"प्रत्येक मनुष्य अपने में विचित्र है। मैंने यही समझा है। चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार एक-जैसे होने पर भी हम सब विचित्र हैं। प्रकृति में समानता उतनी नहीं, जितना वैषम्य। (मुस्करा कर) क्या आप स्वयम् वैशाली की सबसे विचित्र स्त्री नहीं हैं!"

अम्बपाली कुछ हतप्रभ हो गई। उसने उत्तर में कहा—"क्या मैं इसे प्रशंसा समझूँ?"

हेमांक ने सहसा कठोर होकर कहा—"मैंने आज तक किसी स्त्री की प्रशंसा नहीं की है, देवी। मैंने सभी को विचित्र समझा है। किसी को प्रशंसा के योग्य नहीं।"

अम्बपाली आरक्त हो गई। सूर्यमणि के मुँह पर विरोध के भाव स्पष्ट हो गये। अम्बपाली ने धीरे से कहा—"मैंने आपको पहचानने में भूल नहीं की थी, हेमांक।"

सूर्यमणि ने कहा—"सचमुच, हेमांक, तुम बड़े विचित्र हो। क्यों देवि, कहा नहीं था मैंने?"

और वह अम्बपाली की ओर मुड़ा।

अम्बपाली, कुछ क्रोध से, एकटक हेमांक को देख रही थी। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को यह बात स्पष्टतया अप्रिय थी। चतुर हेमांक इसे ताड़ गया। वह मुस्कराने लगा।

"मैं समझता हूँ, मैं चाटुकार नहीं हूँ" उसने उसी तरह कुटिल ढंग पर मुस्कराते हुये कहा।

"मैं सुन्दर युवती की प्रशंसा में कविता नहीं लिखता। देवि क्षमा करें।"

व्यंग एक साथ कवि सूर्यमणि और अम्बपाली पर था।

सूर्यमणि तिलमिला उठा।

सहसा अम्बपाली ने विषय बदलने की दृष्टि से कहा—"इधर बहुत दिनों से नहीं आये, हेमांक, और तुम्हारा बात करने का ढंग भी बदला है। (मुस्करा कर) तुम्हारे प्रयोग.........."

हेमांक ने कट कर कहा—"सचमुच आपसे बाजी लेना टेढ़ी खीर है। मैंने सुश्रुत का विशेष अध्ययन किया है। उससे मुझे यह इंगित मिला कि यदि किन्हीं नाड़ियों की रक्त की गति को प्रभावित किया जा सके तो कुरूप स्त्री (मुस्करा कर), मान लीजिये, वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी बन सकती है।"

अम्बपाली की मुस्कराहट अधिक चौड़ी हो गई। उसने कहा— "तो आप वैशाली की स्त्रियों के लिये विशेष आकर्षक बनेंगे। आपका यह प्रयोग कब सफल होगा?"

हेमांक हँस पड़ा। उसने कहा—"निश्चय हो आपके भय की कोई बात नहीं है। प्रयोग अभी सफल होता नहीं दिखता। अभी मैं स्त्री के ऊपर प्रयोग भी नहीं कर रहा हूँ।"

अम्बपाली ने हँसते हुये कहा—"मैं बता सकती हूँ कि आप किस वस्तु पर प्रयोग कर रहे हैं......."

किंचित लज्जित होते हुए हेमांक ने कहा—"मुझे अपने प्रयोग

पर लज्जित होने की काई बात नहीं। मैं ऐसे रसायन ढूँढ़ना चाहता हूँ जो सौन्दर्य और अमर यौवन की कुंजी बन सके।"

"सौन्दर्य और अमर यौवन!" उसने दुहराया और इन शब्दों का प्रभाव अम्बपाली पर क्या पड़ा, यह जानने के लिये उसके मुँह पर सामने देखने लगा!

अम्बपाली की आँखें मुस्करा रही थीं।

उसके मुँह की रेखाएँ कह रही थीं कि उसको ऐसे रसायन के अस्तित्व में तनिक भी विश्वास नहीं है।

उसने बिना किसी प्रकार विचलित होते हुये कहा—"ईश्वर करे, आप सफल हों। सौन्दर्य को आप वैशाली की प्रत्येक युवती को बाँट दे तो भी अम्बपाली को कोई दुख नहीं होगा। न, कोई चिन्ता नहीं।" यहाँ वह मुस्कराई और क्षण भर ठहर कर बोली—"परन्तु यह अमर यौवन इतनी वांछनीय वस्तु कदाचित नहीं है, हेमांक……क्यों कवि?" उसने सूर्यमणि को देखा। हेमांक को उ से भी अधिक; परन्तु उसने विचित्र मुस्कराहट मुँह पर लाकर उठते हुये कहा—"अब मैं आज्ञा माँगता हूँ। तुम चलोगे, सूर्यमणि?"

आठवाँ परिच्छेद

आचार्य प्रबुद्धकेतु ने उपदेश दिया—"भिक्खुओं, अब आनन्द के कहने पर तथागत ने संघ में स्त्रियों का प्रवेश करने की अनुमति दे दी है। वे थेरी कहलाएँगी। उनके लिये अलग विहार होंगे। उनकी दीक्षा की व्यवस्था भी अलग होगी।"

एक भिक्खु ने पूछा—"स्थविर, मार ने स्त्री का रूप धर कर तथागत को लोभ दिया था। क्या यह बात कल्याणकारी होगी?"

आचार्य ने उत्तर दिया—"तुम्हें शंका है। यह बुरा नहीं है। संदेह ही हमें सत्य की ओर ले जाता है, भिक्खुओं! तथागत ने संदेह किया था। आनन्द, वासना और ऐश्वर्य का यह जीवन ही

क्या जीवन है ? दुख, कष्ट, जरा और मृत्यु। क्या यह सनातन हैं ? क्या यह सत्य हैं ? अन्धकार और प्रकाश क्या सत्य ही दो भिन्न वस्तुएँ हैं ? जीवन का रहस्य क्या है ? इसी संदेह से उनमें जिज्ञासा का जन्म हुआ और—उन्होंने उत्तर पाया। तुम्हारा संदेह ठीक है ? मार से भय है। स्त्री से भय है। स्त्री मार है। परन्तु मार से भागने से क्या गौतम बुद्ध हुए ? बुद्ध योद्धा होता है। वह सत्य, अहिंसा और सम-बुद्ध का खड्ग लेकर मार से जूझता है। अन्त में वह तथागत की गति को प्राप्त होता है। कल्याणकारी वह है जो आत्मा की निर्वाण की ओर ले जाये। कल्याण भीतर है।"

सब शांत होकर सुन रहे थे। वृद्ध स्थविर बोल रहे थे—"उनसे सुनो, जिन्होंने जाना है। कल्याण-अकल्याण, भीतर बाहर कुछ भी नहीं है। एक निश्चित चक्र की तरह यह जीवन आप चला जा रहा है। कब और कैसे इसमें गति आई ? किसने इसे गति दी—भिक्खुओं, ये प्रश्न हमें सत्य से हटा देते हैं। इस चक्र पर हमारा स्थान क्या हो ? क्या हम अपनी गति को इसकी गति के अनुकूल बनाएँ ? या प्रतिकूल ? तथागत का धर्म संसार से विरक्ति नहीं है। उसमें जीवन के महान् प्रश्नों के प्रति अनुरक्ति है। परन्तु वह प्रश्नों को पकड़ कर बैठ नहीं जाता। सब धर्म मनुष्य से हैं। तथागत ने इससे भी आगे बढ़कर कहा—"सब धर्म प्राणी-मात्र से हैं"। इससे क्या ? यही कि धर्म सब को साथ लेकर चलता है। वह सहयोग है। यह व्यक्ति के लिये भी है। परन्तु उससे भी कहीं अधिक समाज के लिये है। वह व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति और लोक का सम्यक्-संबंध बतलाता है। जीवन के सारे अंगों में संबंध उपस्थित करने वाले तथागत के धर्म की जय हो !"

भिक्षुओं ने ध्वनि की—"धर्म की जय हो !"

आचार्य ने कहा—"और इस धर्म को अक्षुण्ण रखने वाले संघ की जय हो !" भिक्खुओं ने ध्वनि की। "संघ को जय हो !"

आचार्य ने फिर कहा—"और संघ के प्राण बुद्ध की जय हो।"

भिक्खुओं ने ध्वनि की—"बुद्ध की जय हो !"

उपदेश समाप्त हो गया।

भिक्षु भिक्षा के लिये नगर को चले। चार-चार भिक्खु साथ जाते थे।

एक टुकड़ी में आचार्य प्रबुद्धकेतु भी थे।

एक भिक्खु ने पूछा—"इस वर्ष मधुपर्व के अवसर पर बलि होगी ?"

आचार्य ने चिंतित होते हुए कहा—"तथागत का धर्म प्रेम का धर्म है। घृणा घृणा को नहीं काटती, प्रेम घृणा को काट देता है। इसी से पिछले वर्ष मैंने बलि में बाधा देते हुये रोका था।......इस वर्ष भी हमें शांत रहना होगा।"

भिक्खु ने कहा—"तब कब तक ?"

"जब तक जनता आप बंद न कराए। भिक्खु, चक्र का परिवर्तन धीरे, किन्तु निश्चित गति से, होगा। तथागत का धर्म लोक-लोक में फैलेगा। मैं इसे आज ही फैलता देख रहा हूँ। पशु-बलि बंद होगी।" वह मुस्कराए—"परन्तु युवक, यह अभी एक दिन में नहीं हो जायगा।"

वे चुप हो गये। अब वे नगर के पश्चिमी द्वार से प्रवेश कर रहे थे। द्वारपालिक ने श्रद्धा से प्रबुद्धकेतु को प्रणाम किया।

आचार्य ने कहा—"बुद्ध की शरण में जा। जय हो! नगर में कुशल है ?"

"नगर में कुशल है"—द्वारपालिक ने अभिवादन करते हुए कहा—"जय हो।"

आचार्य भिक्खुओं के साथ आगे बढ़ गये। द्वारपालिक ने कहा—"आश्चर्य है! ये इतने मनुष्य एकदम भिक्खु बन जायेंगे तो यह नगर संतों का घर हो जायगा। ये सब घर छोड़ रहे हैं ?"

उसके साथी ने कहा—"तब हमें छुट्टी मिलेगी ?"

"हाँ, हाँ"—पहले ने उत्सुकता से कहा—"यह प्राचीर और

ये लौह-द्वार किस लिये ? दस्युओं का भय है। सेट्ठक और श्रेणि उनसे डरते हैं। जब धन ही न होगा तो दस्यु क्यों आने लगे ? क्या तुमने सुना कि निष्क की दर बढ़ गई है।"

"यहाँ निष्क किसके पास है। जो हमारे पास है उसकी दर कभी घटती-बढ़ती नहीं"—दूसरे ने कहा !

पहले ने कहा—"हाँ, हाँ—तुम छुट्टी की बात कर रहे थे। यदि वैशाली उजाड़ हो जाय तो क्या करोगे ?"

"क्यों ?" पहले ने उत्साह से कहा—"कितने ही काम हैं। कम्मार बनो। थपति बनो।......क्या लोग घरों में नहीं रहेंगे ?"

"रहेंगे"—दूसरे ने कहा—"परन्तु...तुमने इन बौद्धों का स्थान देखा है। वह कैसा बेडौल है।"

इसी समय सिर पर टोकरों में मांस लिये, कुछ चांडालों ने नगर में प्रवेश किया।

पहले द्वारपालिक ने कहा—"कहाँ से लाते हो ?"

"चांडाल कश्यप की सूना से।"

"कहाँ ले जा रहे हो ? अंतरायण में या सिंघाटकों पर ?"

"सिंघाटकों पर।"

द्वारपाल ने ललचाई आँखों से टोकरियों को देखा। उसने कहा, "कैसा मांस है ?"

"हिरण, जंगली पक्षी।"

"तुम्हारे पास मछली है ?"

द्वारपालिक ने दूसरे साथी से मुड़ कर कहा—"क्या इन्हें आज्ञापत्र दे दिया जाय ?"

चांडालों की ओर आँख मार कर उसने कहा—"तुम्हें आज्ञा-पत्र मिल जायेगा। तुम वैशाली के बाहर सभी सिंघाटकों पर घूम सकोगे। हाँ, अन्तरायण को छोड़ कर। (मुस्करा कर) इनमें ताजा क्या है ?"

"सभी ताजा है। तुम्हें कुछ चाहिये ?" एक चांडाल ने सिर

से टोकरी उतारी। और ऊपर का कपड़ा हटा कर द्वारपालिक ने झाँका।

उसने कहा—"दो, कुछ दे डालो। शीघ्रता करो। तुम्हें आज्ञा-पत्र मिलेगा। उसमें महाद्वारपालिक की आज्ञा रहेगी। उसमें लिखा होगा—"तुम्हारा मांस श्रेष्ठ है। तुम कितने हो ?"

थोड़ी देर में मामला पट गया। और महाद्वारपालिक की आज्ञा लेकर वे चांडाल सिंघाटकों पर चले गये।

दूसरे द्वारपालिक ने मुस्करा कर कहा—"भाई शर्मिष्ठ, सौदा करना तुम खूब जानते हो।"

"धन्यवाद"

उसने अपना पीतल का प्रवेश-चिन्ह उतार डाला। वह विशेष चिन्ह की छाप का काला सेना-वस्त्र पहनने लगा।

दूसरे ने कहा—"आज तुम कुछ देर से आये, शर्मिष्ठ। मुझे महाद्वारपालिक के आजाने का भय था।"

दूसरे ने आँखों में मुस्कराते हुए कहा—"आज मुझे समय जान नहीं पड़ा। व्रजि-चैत्य की घंटिकाओं ने घंटे देर से बजाए।"

उसकी मुस्कराहट खिल उठी। पहले ने उसे देखा नहीं। वह नागरिक के वस्त्र पहनने में लगा था।

सहसा अश्वों की टापों का शब्द हुआ।

उतरे हुए वस्त्र को दूसरे ने शीघ्रता से शरीर पर डाल लिया और खड्ग लेकर द्वार पर घूमने लगा।

कुछ अश्वारोही थे। उनमें जो आगे था उसे देख कर दोनों ने अभिवादन किया। घोड़े रुक गये।

"नगर में कुशल रही ?"

"कुशल। सेनाढ्य की जय!" पहले द्वारपालिक ने जो नागरिक के वस्त्र पहने हुए था कहा।

अश्वारोहियों ने घोड़ों को ऐड़ लगाई और नगर के बाहर हो गये।

इसके बाद दोनों द्वारपालिकों में चुप-चुप कुछ देर बात होती रही। अब सूर्य ऊपर चढ़ आया था। मांस का अपना भाग लेकर रात भर पहरा देने वाला द्वारपालिक चला गया। एक घड़ी बीतने के बाद भिक्षु लौटे और वे विहार की ओर गये।

विहार में कुछ छात्र प्रबुद्धकेतु के उपदेशों की ताड़ पर लिखी पत्रिका पढ़ रहे थे।

उन्होंने उठ कर आचार्य के हाथ से कमंडलु ले लिया।

संध्या के समय उपदेश-पूजा के बाद प्रबुद्धकेतु ने कहा—भिक्खुओं, गणना से पता चला है कि बुद्ध इस नगर में शीघ्र आ रहे हैं।"

भिक्खुओं की आँखें उल्लास से चमक गईं। उन्होंने कहा—"तथागत की इच्छा!"

आचार्य ने कहा—"इसके लिये हमें विशेष आयोजन करना नहीं होगा। उनके आने के समय तक परिषद् बलि बंद कर देगी और अनेक नागरिक तथागत के पुत्र बन जायेंगे। यह मैंने ज्योतिष से जाना है।"

"भिक्खु-श्रेष्ठ हमें क्या आज्ञा देते हैं?"

प्रबुद्धगुप्त ने कहा—"मैंने गणना से जाना है, वैशाली की गणिका अम्बपाली और उसका प्रेमी कुमार गुप्त इस धर्म-चक्र-परिवर्तन में महान भाग लेंगे। मैं उन्हें पत्र लिख कर इससे सूचित करूंगा। फिर तथागत की इच्छा पूर्ण हो!"

आचार्य प्रबुद्धगुप्त प्रव्रज्या के पहले महाकश्यप के शिष्य थे। उन्होंने तंत्र का विशेष अध्ययन किया था। बौद्ध होने के पश्चात् उसका उपयोग बुद्ध धर्म के प्रचार के लिये करते थे, अन्यथा नहीं। तांत्रिक क्रियाओं में ज्योतिष का अभिज्ञान आवश्यक होने के कारण उन्हें गणना का अच्छा ज्ञान था।

उस दिन उन्होंने दो पत्र लिखे। एक कुमार गुप्त को, एक अम्बपाली को।

———

नवाँ परिच्छेद

हेमांक की बातों ने कुमार गुप्त का धैर्य खो दिया। उसका जीवन अब तक सोते हुये ज्वालामुखी के समान था। अब उसमें विस्फोट से पहले के लक्षण देखने लगे। उस दिन अम्बपाली ने हेमांक और सूर्यमणि को बिदा किया था तो वह फिर उत्तेजित हो गई। कदाचित उसे उसकी अवज्ञा बुरी लगी। जिस प्रेम-पात्र को उसने सर्वस्व दे डाला था उसे कोई अन्य उसी आयु का युवक इस प्रकार निरपेक्ष होकर देख सकेगा यह उसके लिये अप्रिय बात थी। उसके बाद जब-जब हेमांक आया तब कुमार गुप्त ने वार्तालाप में सदा उपस्थित रहना ही ठीक समझा। धीरे-धीरे वह हेमांक की बात को काटने लगा। हेमांक ने अपने अवज्ञा के खड्ग का उस पर भी प्रहार किया।

इस प्रकार चारों व्यक्तियों ने एक चतुष्कोंण का रूप रख लिया। यह चतुष्कोंण रबड़ का बना हुआ था; बराबर खिंचता जाता था। इसे यों भी कह सकते हैं—इन चार पात्रों ने एक त्रिकोण बनाया। अम्बपाली और कुमार गुप्त एक ही कोण पर हैं। वे सूर्यमणि के साथ ६०° का कोण बनाये हैं। परन्तु हेमांक इस त्रिकोण की सबसे बड़ी रेखा बना। 'अ' 'ब' अम्बपाली और कुमार गुप्त और 'ब' 'स' सूर्यमणि। जो सम्बन्ध त्रिकोण के रूप में आरम्भ हुआ था उसका अंत हुआ चतुष्कोंण के रूप में अम्बपाली ने अपनी-अपनी एक अलग रेखा 'स ज' बना ली। और कुमार गुप्त 'अ ज' बन गया।

उन्हीं दिनों अम्बपाली और कुमार गुप्त को आचार्य प्रबुद्धगुप्त के पत्र मिले। अम्बपाली ने खिलखिला कर हँसते हुये कुमार गुप्त पर पत्र फेंक दिया। परन्तु कुमार गुप्त गंभीर हो गया।

उसने कहा—"अम्बपाली, मैं आचार्य प्रबुद्धगुप्त का जानता

हूँ। उन्होंने कभी छोटे हृदय से इसे नहीं लिखा है। वह बड़े गणितज्ञ हैं!'

अम्बपाली ने उसी तरह हँसते हुये कहा—"मैं न गणित में विश्वास करती हूँ, कुमार गुप्त, न फलागम में। यह आचार्य की प्रचार-बुद्धि है।"

कुमार गुप्त मौन हो गया। उसने अपनी दृष्टि अम्बपाली की ओर से हटा ली। कुछ देर दोनों मौन रहे।

अन्त में कुमार गुप्त ने कहा—"देखता हूँ अम्बपाली, हमें एक बड़े चक्र पर चढ़ना होगा। उस पर चढ़ कर हम उतर नहीं सकेंगे। परन्तु इसी में हमारा, तुम्हारा और विश्व का कल्याण है। आचार्य का यह पत्र इसी का इंगीत है।"

अम्बपाली ने अविश्वास की आँखों से देखा।

उसने कहा—"मैंने तुम्हें बताया न, हेमांक की बात सुन कर मुझे ऐसा लगा कि वह मेरे जीवन में एक अभिशाप लेकर आया है। उसने एक ऐसी कल्पना मेरे सामने रक्खी है जो मोहक परन्तु घातक है। उसका अमर यौवन ......"

"मैं जानता हूँ"—कुमार गुप्त ने कहा—"तुम्हारी जैसी स्त्री को यह कल्पना भ्रांत करने वाली होगी। क्या तुम समझती हो हेमांक ने यह क्यों कहा ?"

अम्बपाली ने सिर हिलाया।

कुमार गुप्त हँस पड़ा। उसने कहा—"तुम बड़ी भोली हो। वह तुम्हारे जीवन में आना चाहता है।"

अम्बपाली ने किञ्चित मृदुहास से कहा—"तुम सच कहते हो, वह घृणा से मेरे जीवन में प्रवेश करना चाहता है।" उसने झुक कर कुमार गुप्त का माथा चूम लिया।

"तुम पुरुष बड़े ईर्ष्यालु होते हो।"—उसने उसको ओर स्नेह से देखते हुए कहा—"मैं तुम्हें इस कल्पना पर बधाई नहीं दूँगी।"

कुमार गुप्त ने गंभीर होकर कहा—"अम्बा, तुम कितनी बड़ी

विस्फोट हो, यह तुम नहीं जानतीं। तुम मुस्करा रही हो! यह तुम नहीं जानती हो परन्तु यह तो एक धारा है। हम सब असहाय हैं। ज्वालामुखी के मुँह पर बहते हुए आना, विस्फोट में पड़ कर मृत्यु को प्राप्त होना—यही नियम है।"

"तो यह नियम पूरा हो!" अम्बपाली ने सहसा गंभीर होकर कहा—"कुमार गुप्त, मैंने भी जीवन पर सोचा है। परन्तु प्रत्येक बार मैं इस निश्चय पर आई हूँ कि नियम पूरा होता है। मैं, तुम, वह! क्यों? उत्तर नहीं है, उत्तर नहीं है। यदि मैं पृथ्वी की तरह नीचे खींचती हूँ तो फिर कर्षण—पतन—यही नियम है। मेरा सौन्दर्य अभी भी शीतल नहीं हुआ। स्त्री का प्रेम कभी भी शीतल नहीं होता। तुम तो उस समर्थ को जानते हो, कुमार गुप्त?"

कुमार गुप्त ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

"एक बार उसने भी मेरे जीवन में आना चाहा"—उसने किञ्चित मुस्करा कर कहा—"तुमसे छिपाने के लिये मैंने कभी चेष्टा नहीं की है। समर्थ आया, कितने युवक आये, आज मैं उन्हें स्वप्न में देख कर भी सिहम जाती हूँ। मैंने उनसे खेल किया। उनके पर जल गये। मैंने लौ को चमकता हुआ देख कर हर्ष से चीत्कार की। मैं इसे स्पष्ट देखती हूँ—मुझे केन्द्र बना कर कितनी ही छायाकृतियाँ घूम रही हैं। उनके ओठ शुष्क, उनके शरीर कंकाल-मात्र रह गये, उनके आँखों से अजस्र जल-धार बह रही है। वे स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट युवक आज प्रेत हैं!"

वह रुक गई।

सहसा उसने तीव्रता ला कर कहा—"कौन दोषी है? अम्बपाली? समर्थ? और वे? कौन दोषी है, कुमार गुप्त! तब तुम आये और मैं स्वयम् तुम्हारी ओर चक्कर लगा कर जलने लगी। पहली बार एक भीषण, समुद्र को सोख डालने वाली प्यास ने मुझमें घर कर लिया। परन्तु प्रश्न खुला हुआ है? दोषी कौन है?" कुमार गुप्त ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर दबाते हुये कहा—"दोषी कौन है? दोषी

कोई नहीं है ! परन्तु अम्बिके, यह चक्र अब की रुका है। मुझे आचार्य प्रबुद्धगुप्त की बात याद आ रही है। और हाँ एक बात—उस समय मैं गान्धार में था। एक दिन मैं पहाड़ों पर घूम रहा था। मधु के दिन थे। कहीं-कहीं चट्टानों के बीच से ही वृक्ष दिखाई देते थे। जानती हो वहाँ मैंने क्या देखा ?"

अम्बपाली ने उत्तर नहीं दिया, वह अन्यमनस्क हो रही थी। शायद कुछ सोच रही थी।

—"मैंने देखा, सफेद ऊन का बड़ा सा लबादा पहरे एक युवती—हिम-सी श्वेत—मुझे बुला रहा है। मैं उसके पास गया। उसने अपने मुँह का आवरण हटा दिया। पूछा—'क्यों, तुम डरते नहीं हो ?'

मैं मुस्करा दिया।

उसने कहा—"मैंने तुम्हारे जीवन की हलचल को समझा है। कुमार गुप्त, तुम निर्बल स्रोत की तरह बहोगे, फिर बहोगे, फिर बहोगे ······बहना औरों के लिये अपवाद है परन्तु तुम्हारे लिये नियम है। तुम एक महान् परिवर्तन के सहायक होगे।"

मैंने पूछा—"तुम कौन हो ? मुझे कैसे जानती हो ?"

उसने कहा—"यह तुम नहीं जान पाओगे। तुम एक महान् परिवतन के सहायक होगे परन्तु (वह मुस्कराई) संसार तुम्हें भूल जायेगा, तुमसे सम्बन्ध रखने वाली एक युवती को याद रक्खेगा। बड़े आश्चर्य की बात है न ?"

मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ।

उसने कहा—"मैं उस युवती की आत्मा हूँ। तुम उसे ढूँढ़ो। तुम दोनों एक महान् सूत्र में बँधे हुए हो।"

"फिर वह अंतर्ध्यान हो गई। अम्बपाली, उसने मुझे कितने दिन पागल रक्खा, जानती हो ?"

अम्बपाली की आँखों ने मुस्करा दिया। उसने हँसते हुए

कहा—"तुमने मेरी आत्मा देख ली, कुमार गुप्त। मैं शायद उससे परिचित नहीं हूँ। क्या तुम यह जानते हो, सारे पुरुष कवि होते हैं? वे स्वप्न देखते हैं। सुन्दर स्त्री उनके स्वप्नों में सहायता देती है।"

वह हँस पड़ी।

तीन दिन बाद अम्बपाली ने स्वप्न में एक श्वेत हाथ देखा जो उसे बुला रहा था। वह आगे बढ़ती गई, आगे बढ़ती गई, आगे बढ़ती गई, अंत में समुद्र-तट पर रुकी जहाँ एक विशाल पोत उसकी प्रतीक्षा में था।

महानाविक ने अभिवादन करते हुए कहा—"परन्तु मैं कहीं जाना नहीं चाहती। मैं यहाँ संतुष्ट हूँ। मुझे यहाँ तक कौन लाया?"

नाविक विचित्र हँसी हँसा। उसने कहा—"उसे अदृष्ट कहते हैं! तुम्हें हमारे साथ जाना होगा।"

धीरे धीरे पोत उसे लेकर समुद्र के गर्भ में बढ़ने लगा!

भय से चीख कर वह जाग पड़ी।

कुछ देर बाद वह अपने इस विचित्र स्वप्न पर मुस्कराई परन्तु कुमार गुप्त से उसने कुछ भी नहीं कहा।

क्या अदृष्ट उसे खींच रहा था?

दसवाँ परिच्छेद

बुड्ढे की दुकान पर भीड़ लगी हुई थी। तरह-तरह के फटे-सटे कपड़े पहने बदबूदार लोग आकर मदिरा पान करते। परन्तु इस भीड़ का एक और कारण था।

उसका लड़का जमदग्नी आज नगर-रक्षकों के हाथ लग गया था और वे उसे मारते-पीटते दुकान तक ले आये थे। उन्होंने कहा—"लो, इसे पहचानो, यह तुम्हारा ही छोकरा है न?"

बुड्ढे ने कहा—"यही है, क्यों बे !" उसने वही पुराना चाक का डंडा उठाया और सड़ाक-सड़ाक लड़के पर कई प्रहार किये।

लोगों ने लड़के को उससे छुड़ा दिया। वह गाली बकता हुआ और हाँफता फिर अपने विचित्र आकार के मदिरा के पात्रों में जा बैठा।

एक नगर-रक्षक ने पूछा—"तुमने इसकी लगाम क्यों ढीली कर दी थी ?"

बुड्ढे ने कहा—"अन्नदाता, यह हराम का बालक·······(उसने जलती आँखों से लड़के को देखा)·······इसे मैं उठा लाया। वर्षों पाला-पोसा। और आज यह मुझे छोड़कर भागा हुआ है।"

एक मदिरा-पायी ने कहा—"समय अच्छा नहीं है। दूसरे के बालक कब अपने होते हैं ?"

बुड्ढे ने गरज कर कहा—"तुम किसे दूसरे का कहते हो। तब यह मांस का पिंड था। फूँक मार देता तो मर जाता। वर्षों मैंने इसे छाती पर लिटा कर बड़ा किया। निकम्मा !"

उसने उस आदमी को और फिर लड़के को घूरा। तभी उसकी दृष्टि उन दो नगर-रक्षकों पर पड़ी। उसने उन्हें लक्ष्य करते हुये कहा—"अन्नदाता, बैठिये, क्या पान लाऊँ ?"

उनमें से एक ने कहा—"मैं पान नहीं करता।"

वह ऊँची श्रेणी के लोगों की प्राकृत बोल रहा था। यह स्पष्ट है कि उसे उसका गर्व था। उसकी चाल-ढाल भी ऊँचे वर्ग के मनुष्यों की-सी थी। अब लोगों ने उसकी ओर देखा। उनमें से एक मुस्कराया भी और इस बात को उस नगर-रक्षक ने भी देख लिया।

उसने कहा—"मैंने मदिरा-पान किया है। परन्तु मदिरा-पान का कारण स्त्री होती है। मैंने स्त्रियों से प्रेम करना छोड़ दिया है, मदिरा भी !"

दूसरा नगर-रक्षक उसकी ओर देख कर मुस्कराया।

उसने कहा—"तुम विचित्र हो!"

वह एक स्तूपाकार स्थान पर बैठ गया था। बुड्ढे ने उसे पात्र दिया और वह उसे पी रहा था।

पहला नगर रक्षक चंचल, तेज, उत्तेजना से लाल आँखों से इधर-उधर देख रहा था।

उसे इस प्रकार लुक-छिप कर देखते हुये देख कर एक सज्जन ने बुड्ढे से पूछा—"क्यों मग्गा, वह तुम्हारी बेटी नहीं दिखाई पड़ती?"

उसके इस प्रश्न से नगर-रक्षक लजा गया परन्तु सब पान करने वाले चौंक पड़े। सहसा अभाव उन्हें खटका। वे सब उत्सुकता से बुड्ढे को देखने लगे।

दुकान पर जब भीड़ अधिक होने लगती तो बुड्ढा पुकारता था—"सुभागो, अरी सुभागो!"

सुभागो किवाड़ हटा कर झाँकती—"क्या है बाबा?" "बेटी", बुड्ढा कहता—"अरे, ये अतिथि हैं, अतिथि! इन्हें पान करा" और पीने वालों को ओर देख मुस्कराता हुआ वह कहता—"मेरे हाथ दुख जाते हैं, मैं बुड्ढा हो चला।"

सुभागो मदिरा के विचित्र आकार के मटकों में से द्रव उँडेल कर उन्हें देती। उसकी मुस्कराहट खिल जाती। मदिरा अधिक तेज हो जाती।

कोई-कोई सुभागो से दिल्लगी करता। यह युवती हो चली थी।

एक दिन एक ने कहा—"बुड्ढे, तेरी यह बेटी हमारी अम्ब-पाली है!"

बुड्ढे ने कृतज्ञता से कहा—"धन्यवाद!" परन्तु सुभागो चमक उठी। उसने हाथ का प्याला उसके ऊपर ढलका दिया और वह युवक भीग गया।

आज यह विचित्र बात थी कि उनको अम्बपाली वहाँ नहीं थी और वे कई दिन से उसकी सुध भी भूले हुए थे।

बुड्ढे ने धीरे स्वर में कहा—"वह एक सम्बन्धी के यहाँ गई है। तुम देखते हो" वह मुस्कराया (पीली हँसी) "उसे शीघ्र ही बिदा करना होगा। वह अब जवान है।"

एक ने कहा—"उसे बेच दो।"

बुड्ढे ने क्रोध दिखा कर कहा—"सरल्ला, तुम मेरी दुकान पर नहीं आया करो। तुम ठीक बात नहीं करते। तुम जानते हो सुभागी मेरी लड़की है।"

नगर-रक्षकों की ओर देख कर उसने कहा—"बड़े आदमी सब कुछ बेंच देते हैं। गाएँ, बैल, दास-दासियें, पृथ्वी, प्रासाद और लड़कियाँ। मग्गशिरः केवल पान बेचता है और उसी में प्रसन्न है।

फिर वह वही पीली हँसी हँसा।

इसी समय लड़के ने कहा—"बाबा, तुम झूठ बोलते हो, तुमने बहन को बेंच दिया है।"

बुड्ढा स्तब्ध रह गया। क्षण भर बाद वह उसकी ओर लपका और उसे पृथ्वी पर गिरा कर मारने लगा!

लड़का अब भी वही दुहराये जाता है, "तुमने उसे बेंच दिया है, तुमने उसे बेंच दिया है। बहन कहती थी—पहले, पहले!" बुड्ढा हाँफ रहा था। और वह उसको घूसों और लातों से मारता जाता है। सहसा बालक ने उसका हाथ मुँह में भर लिया। बुड्ढा चीख पड़ा। उसने उसे छोड़ दिया—"हरामजादे!" वह अपने दागी हाथ को देखने लगा।

खड़े हुये नगर-रक्षक ने बुड्ढे को शांत किया। उसने कहा—"यह हमें मालूम है, वह लड़की तुम्हारी नहीं थी, यह लड़का भी तुम्हारा नहीं है। तुमने इन्हें पाला ही है कि और? मैं तुम्हें नगर-पति के पास ले जाऊँगा।"

बुड्ढा खड़ा हो गया। उसकी आँखों में आँसू भर आये। उसने कहा—"अन्नदाता, वह उस लौंडे के साथ भाग गई। अन्न......"

बालक फिर कह उठा—"वह भागी नहीं है।"

थोड़ी देर में सब शांत हो गया।

बैठे हुए नगर-रक्षक ने दूसरे को भी अपने पास बिठा लिया और अब दोनों पान कर रहे थे।

शुद्ध पाली का गर्व करने वाला स्त्री-निन्दक नगर-रक्षक कदाचित् अपनी पहिली बात भूल गया। पान करने वाले और व्यक्ति भी भूल रहे थे।

एक नवयुवक आया।

वह चुपके से एक कोने में बैठ गया।

बुड्ढे ने देर तक उसकी ओर देखा नहीं।

फिर उसने पूछा—"तुम पीले क्यों पड़ रहे हो, शिलाजी ?"

वह मुस्कराया।

शिलाजी ने उत्तर नहीं दिया। क्षण भर बाद उसने कहा—"मैं इधर कई दिन से नहीं आया हूँ। पान दो।"

"अरे, तुम तो मदिरा नहीं छूते थे।" बुड्ढे ने सरलता से कहा। और उसे आप कोई बात याद आगई। वह हत-प्रभ होगया।

युवक ने पान पिया। फिर चलने लगा। जाते हुये उसने कहा—"परिषद् का चुनाव शीघ्र होने वाला है, सेट्ठक ने बड़ा काम दे रक्खा है।"

और जैसे उसने यह सब आत्म-संतोष के लिये कहा हो, वह किसी की ओर देखे बिना चला गया।

अब तक लोग काफी मदिरा पी चुके थे। किसी विषय पर दोनों नगर-रक्षकों में बड़ी तेज़ बहस हो रही थी। दोनों किसी एक ही स्त्री को प्रेम करते थे। मद जब सिर पर चढ़ चुका तो दोनों खुल गये।

एक ने कहा—"तुम मुझे क्या जानते हो ? यह काम मेरा अपना लिया हुआ है। मैं तुम-जैसे नगर-रक्षकों से बात भी नहीं करता।"

वह शुद्ध पाली बोल रहा था।

इसी समय कोलाहल हुआ। दूसरे ने अपना खड्ग निकाल कर उस पर प्रहार किया था। क्षण भर में खड्ग चलने लगे। बुड्ढे ने दुकान बन्द कर दी। लोग गली के मोड़ की ओर भागे।

देर तक इसी तरह ऊधम रहा।

फिर किसी ने ऊँचे स्वर में कहा—"खड्ग रोको।"

बुड्ढे ने झाँक कर देखा—कम्बोजी घोड़े पर चढ़ा हुआ एक राज-पुरुष था।

दोनों पैतरा बदल कर अलग हो गये। एक के कंधे से लोहू बह रहा था। खड्ग दो इंच उतर गया था।

आश्वारोही ने कहा—"तुम दोनों किस टुकड़ी से सम्बन्ध रखते हो?"

दोनों ने एक-दूसरे को देखा।

अश्वारोही ने कहा—"अभी रात अधिक नहीं हुई है। आपान क्यों बन्द है?"

शुद्ध पाली का गर्व रखने वाले नगर-रक्षक ने कहा—"हमारा परस्पर का झगड़ा है; राष्ट्र को इससे कोई मतलब नहीं....."

अश्वारोही ने कहा—"मैं तुम्हें प्रजातंत्र के नाम पर बन्दी करता हूँ। तुम्हें सेनाढ्य आज्ञा दे रहा है। तुमने मद पीकर राष्ट्र की शान्ति में विघ्न डाला है।"

इतने में कई घोड़ों का शब्द हुआ। बहुत से अश्वारोहियों ने आकर नगर-रक्षकों का घेर लिया।

जब वे चले गये तो बुड्ढे को दुकान खोलने का साहस न हुआ। वह अन्दर चला गया। वहाँ कल का बना खाना था।

उसने पुकारा—"जमदग्गी!" जमदग्गी ने ऊँचे स्वर से कहा—"बाबा, तुम झूठे हो।"

बुड्ढे की भ्रकुटि पर बल पड़ गये। वह उसे मारने को उठ रहा था। परन्तु उसी क्षण शांत हो गया। उसने चिल्ला कर कहा—"आ, आ, लड़ मत! तेरी बहन फिर आ जायगी।"

और वह मुस्कराया।

दोनों ने खाना खाया। और फिर लड़के को टाट के टुकड़े पर सुला कर बुड्ढा स्वयम् लेट रहा। वह नीले आकाश को देखता हुआ कुछ सोच रहा था। कुछ देर बाद उसने अपनी फेंट टटोली और सोने के सिक्के निकाले—मुट्ठी भर निष्क और सुवर्ण थे। मदिरा के बेचने से जो कप्पाहरण मिले उसे वह दुकान में ही बन्द कर आया था।

रात आधी से अधिक हो गई थी। बुड्ढा सो रहा था। जमदग्गी उससे चिपटा हुआ था। सहसा द्वार पर कोई आया। उसने कहा—"बाबा!"

यह सुभागो का कंठ था।

बुड्ढा जागा नहीं। आवाज़ कुछ देर आकर चुप हो गई।

प्रातः वह जागा तो उसे रात की ध्वनि का कुछ आभास हुआ। वह मुस्कराया! अरे, वह सपना था? सुभागा अब क्या आएगी। परन्तु साथ ही उसके मुँह पर कालिमा और चिंता की एक रेखा दौड़ गई। सोते हुए जग्गी को देख कर और कमर को टटोलते हुए उसने कहा—"मैंने यह बड़ा पाप किया। हाय!"

ग्यारहवाँ परिच्छेद

चैती के पर्व के समय वैशाली में एक दिन उत्सव होते। राज्य की ओर से एक नाटक भी होता। इस वर्ष जमदग्नि नाटक चुना गया था।

खेल हो रहा था।

बीच में पट बदलने के लिये थोड़ा सा अवकाश हुआ। उस समय प्रकाश बुझा दिया गया था। अबकी बार प्रकाश हुआ तो लोगों ने एक विचित्र मूर्त्ति रंग-मंच पर देखी। वह ऊपर से नीचे तक काले कपड़े में ढकी थी, केवल उसके गोरे हाथ और तेज़, भयावक हिंस्र-पशु की-सी आँखें चमक रहे थे।

कथानक में इस विचित्र मूर्त्ति की अवतारणा की कोई आवश्यकता नहीं थी।

जनता ने आश्चर्य और उत्सुकता से ताली पीट दी।

सहसा लाल हिंस्र आँखें दुगनी ज्योति से चमक उठीं। उस मूर्त्ति ने रंग-मंच से गरज कर कहा—"वैशाली के नागरिकों, अब तुम तमाशा नहीं देख रहे हो ? जिस रंग-महल में तुम बैठे हो, वह बंदी-गृह बना दिया गया है। न कोई बाहर जा सकता है, न भीतर आ सकता है। तुम्हें एक प्रश्न का उत्तर देना है। उसे तुम टाल नहीं सकते। प्रजातंत्र का प्रत्येक दूसरे व्यक्ति की भूलों-चूकों का उत्तर-दायी है। तुम·······।"

जनता में कौलाहल हुआ।

मूर्त्ति ने गरज कर कहा—"शांत ! कोई अपने स्थान से हिले नहीं। तुम्हारे सामने आज दस्यु-श्रेष्ठि नृसिंह खड़ा हुआ है। प्रतिहिंसा से उसका हृदय जल रहा है।·· ·····नृसिंह !"

उसकी आवाज़ रंग-मंच से उतर कर अन्दर-बाहर गूँज गई।

लोग भयभीत हो गये।

नृसिंह ने कहा—"लिच्छिवियों की इस परिषद् में एक व्यक्ति ऐसा है जिसने कभी एक निरीह कन्या पर बलात्कार किया था। उस समय वह जानता था कि उसका रक्षक कोई नहीं है। आज वह असहाय नहीं है। मैं उसे यहाँ लाकर उसकी लज्जा को ठेस नहीं पहुँचाता परन्तु यह बात सत्य है ! आमात्य स्वर्ण सेन अपने हृदय को टटोलें।"

सभा में सन्नाटा हो गया। लोग आश्चर्य में आ गये। "वृद्ध आमात्य !" आश्चर्य से सबने सामने की ओर देखा जहाँ राज-परिषद् बैठी थी।

उसने कुछ ठहर कर फिर कहा—"तुम जानते हो, लिच्छिवी-राजपुरुषों ! इस गणतंत्र में घुन लग गया है। यहाँ वैशाली की ओर देखो; आमोद, प्रमोद, और वासना का गहरा नाच हो रहा है।

क्या इस तरह गण-तंत्र ठहरेगा ? क्या तुमने राजगृह के सिंहपदों का नाम सुना है ? वे यहाँ पहुँच गये हैं। अजातशत्रु के गुप्तचर तुम में फूट डालना चाहते हैं। हो सके तो उन्हें ढूँढ़ निकालो। तुम्हारे चारों ओर एक बवंडर उमड़ रहा है। परन्तु तुम उसकी ओर से दृष्टि फेरे हो। आमात्य क्या तुम अभियोग स्वीकार करते हो ?"

सहसा वृद्ध, पीले पड़े, आमात्य ने उठकर कहा—"मैं इस बहुत पहले की भूल को स्वीकार करता हूँ।"

हिंस्र आँखें चमक उठीं। नृसिंह का हाथ बढ़ा। उसमें काले कपड़े में लिपटा हुआ खड्ग था। उसने उसे आमात्य की ओर फेंक दिया।

"मृत्युदंड !"—उसने कठोर, कर्कश स्वर में कहा—"वैशाली दस्यु-संघ तुम्हें मृत्यु-दंड देता है।"

सभा में हलचल होने लगी।

नृसिंह ने स्वर ऊँचा उठाते हुए कहा—"समाज के रक्खे हुए आदर्शों को मान कर चलना प्रत्येक का धर्म और कर्तव्य है। आमात्य ने एक आदर्श की हत्या की है। .... बाहर से कोई सहायता नहीं पहुँच सकती .... आमात्य, तुम्हें आत्म-हत्या करना है।"

यकायक स्वर्णसेन हँस पड़े। उन्होंने कहा—"दस्यु-राज, न्याय के विधान का अधिकार तुम्हें नहीं है। वैशाली की यह परिषद तुम्हें अराजक और राष्ट्र-द्रोही घोषित कर चुकी है।"

"दस्यु-संघ वैशाली की परिषद के नियमों के ऊपर है।"—नृसिंह ने कहा—"कितने अभियोग रात के अंधकार के परदे में होते हैं। वैशाली का न्यायधीश उन्हें नहीं देख पाता। हमारा दस्यु-संघ ऐसे अभियोगों पर विचार करता है।"

"सचमुच ?"

"मैं तुम्हें समय देता हूँ", दस्यु की आवाज गूँज उठी।

उसने कहा—"प्रधान द्वार पर कौन है ?"

एक काली छायाकृति ने एक कोने से बढ़ कर सांकेतिक भाषा में कुछ कहा। समय बीत रहा था।

सहसा आमात्य ने खड्ग उठा लिया।

उनका वृद्ध हाथ उसे उठाते हुये काँपा परन्तु उन्होंने अपने ऊपर आघात नहीं किया।

धीरे-धीरे वे रंगमंच की ओर बढ़े।

दस्यु ने चिल्ला कर कहा "स्वर्ण सेन, तुम विलम्ब करते हो!"

इस बार आमात्य की वाणी कठोर थी।

उन्होंने कहा—"नृसिंह, दस्यु, परिषद के नाम पर मैं तुम्हें बंदी करता हूँ।"

वे और आगे बढ़े।

नृसिंह ने ठहाका मारा।

उसने दूसरे हाथ से चमकता हुआ खड्ग निकाला।

दस्यु-संघ तुम्हें प्राणदंड देता है!"

क्षण भर में खड्ग चलने लगे। बूढ़े आमात्य ने फुर्ती से दस्यु के वारों को बचाना आरम्भ किया।

काली छायाकृतियाँ रंगमंच की ओर बढ़ने लगीं। सहसा अम्बपाली की आवाज़ गूँज गई। उसने कहा—"नृसिंह, मैं तुम्हें पहचानती हूँ।"

नृसिंह ने उसी प्रकार प्रहार करते कहा—"यह अम्बपाली की आवाज़ है। तुम मुझे नहीं जानतीं।"

"तब मुझे उस कंगन की याद दिलानी होगी जो तुमने उस रात श्वेतपर्णी अटवी में ...."

दस्यु उछल कर दूर जा खड़ा हुआ।

उसने कहा—"इसका क्या अर्थ? अम्बपाली क्या तुम मेरे ऊपर प्रहार करोगी?"

अम्बपाली की आँखें उल्लास और तेज से चमकने लगीं।

उसने कहा—"तुमने देखा, मैंने भूल नहीं की थी। अम्बपाली वैशाली की ऋणी है।········क्या मैं तुम्हारा परिचय दूँ ?"

हाँफते हुये नृसिंह ने रंगमंच के एक ओर जाते हुये कहा—"आमात्य, आज तुम बच गये। परन्तु ···· एक दिन तुम्हें प्राण देना होगा।"

और क्षण भर में रंगमंच से कूद कर वह बाहर हो गया। उसके साथ वे काली छायाकृतियाँ भी न जाने कहाँ गुप्त हो गईं !

फिर नाटक हुआ। परन्तु दर्शक उसी घटना की बात करते थे।

स्वयम् अम्बपाली भी कुछ उद्विग्न हो उठी थी। उसने नाटक के बीच में ही रंगमंच छोड़ दिया और उत्सुक आँखों के बीच में से होती हुई द्वार के बाहर हो गई। वहाँ उसका रथ खड़ा था।

बारहवाँ परिच्छेद

धीरे-धीरे वैशाली के जीवन में अनिश्चितता आती जा रही थी। नई परिषद् का चुनाव समीप आ रहा था और राजनैतिक चहल-पहल दिखाई पड़ने लगी थी। उस दिन की दस्यु-श्रेष्ठि नृसिंह की चेतावनी ने जनता में एक हलचल मचा दी थी। राजगृह के सिंहपदों से वैशाली के राज-पुरुष भयभीत रहते थे। राजगृह से जो यात्री आते थे उन पर नगर-रक्षकों की कड़ी देख-रेख रहती। उनसे पता चला कि अजातशत्रु सेना का संगठन कर रहा है। उसका उद्देश्य क्या है, यह कोई नहीं जानता था। कुछ यात्रियों ने बताया कि उन्होंने राज-गृह से दूर एक घनी अट्टवी के पास नौकाओं का एक बड़ा बेड़ा देखा है। उस पर सैनिक वेष में, परन्तु ऊपर मुँह पर काला कपड़ा डाले हुए, लोग थे। इन बातों ने वैशाली में उत्तेजना का वातावरण उत्पन्न कर दिया। वैशाली के बाहर काष्ठ-प्राचीरें स्थान-स्थान पर दृढ़ की जाने गीं और गोपुरों पर सैनिक रहने लगे। नगर को घेरे हुए दो खाइयाँ

थीं। अब उनमें जल छोड़ दिया गया था और सारा नगर एक द्वीप-सा जान पड़ता था।

लोग सेतु से उस पार जाते और आश्चर्य से नीचे बहते हुये जल को देखते।

तूर्य बजाते हुए सेना-नायक राजपथों पर निकलते। वे चिल्ला-चिल्ला कर कहते—"प्रजातंत्र की रक्षा के लिये हमारे नागरिक कटिबद्ध हैं ?"

उसके चारों ओर नागरिक इकट्ठे हो जाते।

वे उन्हें परिस्थिति समझाते।

परन्तु वैशाली राष्ट्र में घुन लग चुका था।

यह बात बहुत ग़लत नहीं थी। राजपुरुषों के प्रासादों में उसी प्रकार नृत्य, संगीत और मदिरा की नदियाँ बहतीं।

स्वर्ण सेन के प्रासाद में उसके पुत्र के मित्रों की बैठक लगी हुई थी। और उसका पुत्र भीमसेन भी वहाँ था। स्वयम् आमात्य ने यह प्रासाद छोड़ दिया था और अंदर के एक भवन में रहते थे।

एक राजपुरुष ने कहा—"मित्र भीमसेन, अब यह नगर इतना निरापद नहीं है, यह तो तुमने देख ही लिया। बहुत शीघ्र हमें सतर्क होना होगा।"

एक दूसरे नवयुवक ने कहा—"यह अजातशत्रु की एक राजनीतिक चाल है। वह वैशाली की परिषद को डराना चाहता है। उसे यह बता देना चाहिए कि वृज-संघ के पास भी खड्ग हैं।"

भीमसेन ने कहा—"यही लो। मैं पिता को थोड़ा भी दोषी नहीं समझता। इतनी पुरानी बात को स्वीकर करना ही भूल थी। यह नृसिंह सिंहपदों······।"

पहले बोलने वाले राज-पुरुष ने कहा—"यह ठीक नहीं है, भीमसेन। न, न ·········वह उनमें से कदापि नहीं हो सकता। क्या तुम जानते हो, वैशाली की ग्रामीण प्रजा उसे कितना मानती है ?"

"प्रजा देश-द्रोही है"—भीमसेन ने कहा—"मैं इसे वैशाली की राष्ट्र-भक्ति पर एक लाञ्छन समझता हूँ।"

"परन्तु नृसिंह साधारण दस्यु नहीं है। उसने दस्युओं को संगठित करके ऊँचे माग पर डाला है। यह तो आप मानेंगे?"

"यह भी मैं नहीं मानता। अभी उस दिन अन्तरायण से जो अनाज के बोरे लूट लिये गये—आप उसके लिये उसे दोषी नहीं समझते।"

सब चुप हो रहे।

एक और नवयुवक ने कहा—"हमने सुना है उसने सारा अनाज श्रीहट्ट ग्राम में बाँट दिया है।"

सब चुप!

उसी नवयुवक ने फिर कहा—"और श्रीहट्ट में इस वर्ष अन्न अधिक नहीं उपजा है। इस मधुपर्व के समय वहाँ से पूर्ण राजभोग नहीं आया था।"

भीमसेन ने वह चुप्पी ताड़ी। उसने कहा—"वहाँ का ग्राम-भोजक बताता था कि भूस्वामी पूरी बलि नहीं दे रहे हैं। अब भी वह पूरी बलि उघाने में प्रयत्नशील हैं। सेनानी का एक नायक उधर गया है।"

राज-पुरुष की ओर देखते हुए उसने कहा—"अद्भुत समय है, बसंत!"

बसन्त ने कहा—"मैं समझता हूँ, महामात्य को बलि न मिलने का एक कारण है। ग्रामीण भिक्खु हुए जा रहे हैं। वे अपना व्यवसाय छोड़ देते हैं। इसी कारण हलवाहों ने भी अपनी दर बढ़ा दी है। हलवाहे कम हो रहे हैं।"

स्पष्ट था कि उसकी बात विचारशील थी। सब उस पर सोचने लगे।

"ऐसा क्यों है?"—कुछ देर के बाद एक ने कहा—"ऐसा है तो राष्ट्र की रक्षा कैसे होगी?"

भीमसेन ने कहा—"हमें आक्रमण का भय है। शीघ्र ही हमारे अन्न-भांडारों को भर जाना चाहिए। परन्तु परिस्थिति ऐसी नहीं है। आक्रमण के समय कृषि हो नहीं सकती। इन्हीं भांडारों पर राष्ट्र का जीवन है।"

कक्ष में उजला प्रकाश था। एक ओर सुगंध जल रही थी। दास-दासी चुपचाप मदिरापान का व्यवस्था कर रहे थे। एक प्रतिहारी ने आ कर कहा—"श्री अट्टवी का आरक्खक द्वार पर है!"

"इस समय!" भीमसेन ने कहा—"वह फिर आये।"

प्रतिहारी चला गया।

थोड़ी देर पश्चात लौट कर उसने कहा [illegible], [illegible]श्यक काम बताता है।"

"उसे बुलाओ"—भीमसेन ने कहा और वह संगमरमर और देवदार के आधारों पर सजे हुए पात्रों को देखने लगा।

बसंत से एक युवक ने पूछा—"राजगृह का क्या समाचार है?"

उसने कहा—"कदाचित सेनजित पर फिर आक्रमण होगा। मैं समझता हूँ इस बार अजातशत्रु उन्हें परास्त नहीं कर सकेगा।"

युवक ने प्रश्न की आँखों से उसे देखा।

"श्रावस्ती की सेना में कामपिल्य और गान्धार के सैनिक भरती किये गये हैं। गान्धार के मनुष्य हमारे देश में सब से अधिक हृष्ट-पुष्ट हैं—"

इतने में अट्टवी-आरक्खक ने प्रवेश किया।

अभिवादन करने के बाद उसने कहा—"श्रीमान्, श्री के पश्चिम की ओर के बन में आज दस्यु-संघ का बैठक होने वाली है।"

सभों ने उत्सुकता से उसे देखा।

भीमसेन ने पूछा—"तुम क्या चाहते हो?"

"आपकी क्या आज्ञा है?" अट्टवी आरक्खक ने कहा—"मैं लिच्छविराज के पास से होता आया हूँ। उन्होंने आपका मत पूछा है। क्या प्रहर भर में ५००० सैनिक वहाँ पहुँच सकते हैं?"

कुछ देर चुप रह कर कुमार भीमसेन ने उत्तर दिया—"स्वयम् लिच्छिवि-राज को मालूम होगा कि दस्यु-संघ का प्रश्न इतना सरल नहीं है। इस परिस्थिति में हम झगड़ा मोल नहीं ले सकते। सैनिक उन्हें मिल सकते हैं परन्तु यह बात परिषद् के सामने रखने की थी।"

"परिषद् का आयोजन इतना शीघ्र सम्भव कब है?"

"एक बार परिषद् ने इस सम्बन्ध में सोचा था परन्तु निश्चय नहीं कर सकी"—भीमसेन ने कहा, "हाँ, तुम सब कितने हो?"

"५०८"

"क्या श्रीहट्टी के पास के स्थल-निय्यामक तुम्हारे साथ नहीं चल सकते?"

"इसके लिये महा-निय्यामक को आज्ञापत्र मिलना चाहिये।"

कुछ सोच विचार के बाद कुमार भीमसेन ने कहा—"महा-आरक्खक के नाते मेरा कर्त्तव्य है कि उन्हें बंदी करूँ। क्यों, वे कितने होंगे?"

"उनकी इस बैठक में वैशाली, श्रीहट्ट, कौशला और श्रीपट्टन के दस्यु-निगम होंगे। मै समझता हूँ उनकी संख्या सात सौ होगी।"

"क्या नृसिंह उपस्थित होगा।"

"अवश्य!"

"तुम पिता जी और लिच्छिवि-राज से निश्चित कर सकते हो। यदि सेना की आवश्यकता पड़े तो मेरे पास आ सकते हो। मेरा मत उनसे कहना"—भीमसेन ने कहा—"अब जाओ"।

अट्टवी-आरक्खक के चले जाने के बाद कुछ समय तक इसी विषय पर बातचीत होती रही। उसके बाद मदिरा-पान आरम्भ हुआ।

दासियाँ सुगंधित मदिरा से पात्र भर उन्हें देतीं और वे उनसे और आपस में व्यंग और हँसी करते हुए पान करते।

सहसा कक्ष में नूपुरों की ध्वनि भर गई। गोल कक्ष के तीन द्वारों को खोल कर सुन्दर नर्तकियों ने प्रवेश किया। उनके पैर नृत्य के

सम-ताल का ध्यान रख कर पड़ते थे और वे मंद मयूर-नृत्य के ढंग पर बढ़ रही थीं।

भीमसेन ने कहा—"ओ हो, तुम आ गईं। मित्रों, हम इनमें से प्रत्येक के स्वास्थ्य के लिये एक बार पात्र पियें।"

नर्तकियाँ उनके सामने पहुँच चुकी थीं। उन्होंने मंदहास्य से उनका अभिवादन किया और सामने बैठ गईं।

दासी के हाथ से मदिरा-पात्र लेकर भीमसेन ने एक नर्तकी की ओर बढ़ाया।

"नृत्य के पहले पान!" उसने कहा—"मित्रों, अप्सरा-कन्याओं को पान कराओ।"

नर्तकियों ने उनका हाथ चूमा और धीरे-धीरे पी कर उनके हाथ का पात्र खाली कर दिया। उनकी लटें गालों पर झूलती थीं और उनके सोने के जड़ाऊ कुंडल पात्र से टकरा कर ध्वनि करते थे।

फिर उन्होंने स्वयम् पात्र भरे और मित्रों के सम्मुख उपस्थित किए। बसंत ने मुस्करा कर कहा—"मैं रूपकला के हाथ से पान करूँगा।"

एक नवयुवक ने किञ्चित हास्य से कहा—"मित्र, तब मैं तुमसे ईर्ष्या करूँगा।"

जिस नर्तकी का नाम रूपकला था, वह भीमसेन को पात्र दे रही थी। भीमसेन ने कहा—"यह पात्र बसंत को दे दो, रूपकला।"

और उसने धीरे-धीरे उसे खींचकर चूम लिया।

दासियाँ एक सुन्दर मधु-घट उतार कर ला रही थीं। उनके पैर डगमगा रहे थे।

भीमसेन ने पूछा—"क्या तुमने पान किया है, मदलेखा?"

उनमें से एक ने बहके हुए, संकोच के ढंग से उसकी ओर देख कर मुस्करा दिया।

भीमसेन मुस्कराया। उसने कहा—"मित्रों, दासियों का मद-पान करना ठीक नहीं। मदलेखा, इधर आ!"

मदलेखा प्रासाद की सब से नई दासी थी। उसे स्वयम् भीमसेन ने मोल लिया था। कई दिन से वह उस पर विजय पाने की चेष्टा कर रहा था, परन्तु मदलेखा किसी भी प्रकार आत्म-समर्पण के लिये तैयार नहीं था। आज भीमसेन के इशारे से अन्य अधिक अनुभवी दासियों ने उसे भी मद्पान करा दिया था।

मदलेखा उसके पास आ गई। रूपकला बसंत को पात्र दे रही थी। अन्य नर्तकियाँ भी पात्र भर-दे रही थीं।

भीमसेन ने कहा—"मदलेखा, कुमारियाँ पान नहीं करतीं।"

और वह मुस्कराया।

"तुम यहीं बैठो, मदलेखा"—उसने उसे पकड़ कर अपने पास बिठा लिया। "यह पात्र तुम उठा न सकोगी।"

उसने प्यार से उसे देखा। मदलेखा ने मुस्करा कर संकोच से दृष्टि नीची कर ली।

नृत्य आरम्भ हुआ।

देर तक नृत्य और आमोद-प्रमोद चलता रहा। उस मधुघट की मदिरा बड़ी तेज थी। उसने सभी को लगभग संज्ञा-हीन कर रक्खा था।

नृत्य समाप्त हो गया। कक्ष के द्वार बंद हो गये। नर्तकियाँ युवकों के पार्श्व में आ बैठीं। प्रेमालाप होने लगा। मदलेखा को छोड़ कर सारी दासियाँ जा चुकी थीं। वह संकोच से सिकुड़ी, अर्धनिमीलित आँखों से दृश्य देख रही थी, जैसे उसे उसमें भाग लेना न हो, वह एक दर्शक मात्र हो।

रात आधी के लगभग बीत चुकी थी।

सहसा प्रतिहारी ने बाहर ऊँचे स्वर से कहा—"श्रीहट्टी के आरक्षक द्वार पर हैं। क्या श्रीमान् जानते हैं?"

कक्ष के द्वार पर पहुँच कर लड़खड़ाते हुए पैरों से भीमसेन ने द्वार खोला।

उसने कहा—"यह आरक्षक से भेंट करने का समय नहीं है। वह लिच्छिवि-राज से आज्ञा ले।"

और उत्तर सुने बिना उसने कक्ष का द्वार बंद कर लिया।

मद से आँखें रतनारी किये, गलबाँही दिये, मंडली की ओर मुस्कराते हुए उसने कहा—"अब वैशाली आमोद-प्रमोद की नगरी नहीं रह गई। दस्युओं और षड्यंत्रों की समस्या सुलझाने में यौवन बीता जाता है।"

एक युवक ने काँपते हुए स्वर में कहा—"हम ताम्रपर्णी चलें। वहाँ यक्षिणियाँ रहती हैं जो पुरुषों को लुभा लेती हैं।"

भीमसेन ने अचेत होती हुई, गुमसुम मदलेखा को अंक में भरते हुए कहा—"परन्तु अभी वैशाली में एक यक्षिणी है।"

उसने उसे सहारा देकर खड़ा किया और पूर्व के अन्तःकक्ष की ओर उसे ले जाते हुए कहा—"मित्रों, उन दोनों कक्षों में तुम्हारे शयन का प्रबंध है, इसे भूल मत जाना। यह रात तुम्हें आनन्द दे।"

उसने अन्तःकक्ष के द्वार भेड़ते हुए एक बार अपनी बाहुओं में आबद्ध, पीली, प्राण-हीन-सी युवती को देखा; फिर मुड़ कर मुस्कराते हुये उसने मित्रों का अभिवादन किया।

तेरहवाँ परिच्छेद

इन्हीं दिन बुद्ध वैशाली आए परन्तु वह नगर नहीं आ सके। वैशाली के बाहर एक ग्राम में वह ठहरे हुए थे। वैशाली में उनके आने से कोई विशेष हलचल नहीं हुई। लोग अजातशत्रु की चाल-ढाल परखने में इतने लगे थे कि वह बुद्ध में अधिक उत्सुक न हो सके।

अकेले बुद्ध ही नहीं आए थे। उनके साथ सारिपुत्र, मोग्गलाइन, आनन्द, गोपालि आदि स्थविर और भिक्षु आदि और राहुल-माता, किशा गौतमी, शुभा आदि नई दीक्षित भिक्षुणियाँ भी थीं। वह प्रबुद्ध-केतु के संघाराम में आते थे और वहीं उपदेश और प्रचार करते थे। उनकी अवस्था इस समय पचहत्तर को पहुँच गई थी। कुछ दिनों वहाँ रह कर बुद्ध चले गये। उनके जाते ही बौद्ध-संघ ने द्विगुण उत्साह से नगर में प्रचार करना आरम्भ किया। जिन भिक्षुओं ने आचार्य प्रबुद्ध

गुप्त से दीक्षित होकर केवल बुद्ध का नाम सुना था। वह उनके दर्शन कर सके। उनकी चौड़ी छाती, लंबी बाँह, विशाल मस्तक और ज्ञान में दीप्त शांत मुद्रा को देख कर कोई प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता था। उनके चारों ओर दया, करुणा और मैत्री का वातावरण उपस्थित रहता। बुद्ध उपदेश देते परन्तु उनका व्यक्तित्व इससे पहले ही समस्त प्रश्नों का उत्तर दे देता। बुद्ध के जाने के बाद प्रचार अधिक सफल हुआ। उसका कारण यह था कि शीघ्र ही जनता की रुचि राजनीतिक प्रश्नों से हट गई। वैशाली के धर्म-भीरु, आनन्द-प्रिय, प्रजातंत्र की हलचलों में सस्ती उत्तेजना पाने वाले नागरिक मगध के भय से मुक्त हो गये थे। अजातशत्रु का लक्ष्य कोशल था। बुद्ध जब श्रावस्ती को छोड़ रहे थे उसी समय उसने नगर घेर लिया था और उन्हें अपने अनुयायियों के साथ चढ़ी हुई अचिरावती को नौकाओं द्वारा पार करना पड़ा था। उस ओर आक्रमण के भय के कारण प्रसेनजित् ने इधर नदी का बाँध तुड़वा दिया था।

अब वैशाली के आमोद-प्रिय नागरिकों को छुट्टी मिली। उन्होंने अपने चारों ओर देखा—तथागत उनकी वैशाली में आये और चले गये। उन्हें यह जान कर सचमुच आश्चर्य हुआ। प्रत्येक वर्ष बलि के बढ़ते हुए विरोध और नये दीक्षित नागरिकों के उत्साह से लगभग सभी उनसे परिचित हो गये थे। यह विचित्र व्यक्ति कैसा होगा? जो उन्हें देख आये थे वे उसकी सौम्य मुद्रा और अद्भुत प्रभाव की बात कहते!

अम्बपाली ने भी बुद्ध के वैशाली आने की बात सुनी परन्तु उसने कुमार गुप्त से छिपा रक्खा। उसे स्वयम् अपने विलास-मय जीवन से अरुचि-सी हो रही थी। परन्तु उसके संस्कार उसके भीतर भयंकर लड़ाई लड़ रहे थे जो कोशल-मगध के युद्ध से भी कहीं तीव्र थी। आखिर कुमार गुप्त क्या था? उसका एक खिलौना, एक मनो-रंजन। यही वासना और ऐश्वर्य का प्रतीक। स्वयम् कुमार गुप्त जाने-अनजाने विरति की ओर झुक रहा था। यह कोई अरुचिकर बात

नहीं थी। परन्तु जितने दिन हो सके, अम्बपाली इसे रोक रखना चाहती थी।

आधी रात जा रही थी। जेष्ठ की पूर्णिमा थी। आकाश स्वच्छ, नीला। दिन की बड़ी गर्मी के बाद रात का ठंडा, सुखद पवन चलने लगा था। अंबपाली मदिरा-पान और रात के पहले पहर के विलास की श्रांति और गर्मी से कष्ट पाकर बाहर खुले प्रांगण में निकल आई थी। उसने कुमार गुप्त को सोते हुये छोड़ दिया था। प्रांगण के बीच में एक बड़ा पत्थर का सिंह बना हुआ था।

उसके दोनों पार्श्वों में संगमरमर की दो सुन्दर ऊँची चौकियाँ रक्खी हुई थीं। चारों ओर निस्तब्धता थी।

इन्हीं चौकियों में से एक पर अम्बपाली बैठी हुई थी। वह ऊपर आकाश के चंद्रधनुष को देख रही थी। फिर उसने अपनी पीठ सिंह से लगा ली और इसी तरह अर्ध-लेटी अवस्था में वह सो गई।

रात का पिछला पहर आधा बीत चुका था कि उसकी आँख खुली। किसी के स्पर्श का उसने अनुभव किया। वह कुमार गुप्त था। अम्बपाली ने उसकी ओर पूर्ण खुली आँखों से देखा। इस थोड़ी-सी नींद से उसकी क्लांति जाती रही थी। वह स्वस्थ थी। कुमार गुप्त श्रांत और पीला पड़ रहा था।

अम्बपाली ने उसे अपने पास बिठा लिया और वह भी उससे सट कर बैठ गई। चौकी पर दो मनुष्यों के बैठने का स्थान कठिनता से बन सकता था।

उसने पूछा—"जागे क्यों?"

कुमार गुप्त ने उत्तर दिया—"तुम यहाँ कब से हो, अम्बिका?"

"कब से? मैं अभी आई हूँ।"—उसने कहा—"अभी अधिक देर नहीं हुई होगी।"

कुमार गुप्त चुप हो रहा। उसने कहा—"मैं स्वप्न देख रहा था।" और अम्बपाली की ओर देख कर वह फीकी मुस्कान में मुस्कराया।

"क्या स्वप्न ?"—अम्बपाली ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। "कुमार गुप्त !", उसने कहा, "मैं स्वप्नों में विश्वास नहीं करती। मैं उन्हें भुलावा कहती हूँ। संसार में न जाने कितनी प्रवृत्तियाँ अशांत, अपूर्ण, असंतुष्ट रह जाती हैं! वही छलना बन कर एक सुन्दर मरीचिका हमारे सामने उपस्थित कर देती हैं और हम उसे जागकर सत्य मान लेते हैं और दुखी होते हैं।"

कुमार गुप्त ने कहा –"यह माने लेता हूँ। परन्तु आज वही पुराना स्वप्न ? परन्तु तब अवश्य वह स्वप्न नहीं।"

वह मुस्कराया।

"गान्धार की मेरी परिचित मुझे स्वप्न में दिखाई दी।……उसने बहुत से बातें कहीं……वह कहती थी, समय आ गया है। इस संसार में नई धारा बहेगी। राष्ट्र, लोक, देश और संसार उसमें बह जायेंगे। देवता इस परिवर्त्तन को उत्सुकता से देख रहे हैं। उस परिवर्त्तन में तुम प्रधान भाग लोगे। सुना तुमने ?"

"कल तुम यही सोचते होगे"—अम्बपाली ने कहा—"मैं शर्त लगा कर कहती हूँ, वह युवती तुम्हारी आत्मा है। मेरी आत्मा कह कर उसने झूठ बोला।"

वह हँस पड़ी और निस्तब्ध प्रांगण में उसकी हँसी रजनीगंधा के फूल की तरह खिल कर चाँदनी को और उज्ज्वल बना गई।

कुमार गुप्त मौन रहा।

अम्बपाली भी चुप थी।

सहसा आकाश की ओर देख कर अम्बपाली ने कहा—"यह क्या ? क्या मैं सो गई थी ? चाँद पश्चिम में चला गया है।"

कुमार गुप्त ने उसकी ओर ध्यान दिया। मुस्कराते हुये उसने कहा—"तुम रात के तीसरे पहर बीतने के समय तक जागती नहीं रह सकती।"

"ओह !", अम्बपाली ने कहा—"तब तुम्हें सपने देखने का बड़ा अवकाश मिला होगा। क्यों ?"

कुमार गुप्त ने मुस्करा कर उत्तर दिया—"बहुत! उस परिवर्त्तन में तुम्हें भी भाग लेना होगा। तुम उसकी प्रधान पात्री बनोगी, कुमार गुप्त प्रधान पात्र! जानती हो वह परिवर्त्तन क्या है?"

अम्बपाली ने अस्वीकृत प्रकट की।

"उसने कहा—उधर पूर्व की ओर देखो। आकाश·······उसके भीतर······देखो ······एक शृंग······उसके पास ·· एक मूर्त्ति····· यह कौन है?······बुद्ध !·· ···हाँ, तुमने उनके दर्शन किये हैं। जब वे राजगृह गये थे। कुमार गुप्त, तब तुम छोटे थे। तुम्हारे पिता ने उन्हें उनके चरणों में डाल दिया था।

"इतनी आयु बीतने पर उन्होंने तुम्हें प्राप्त किया था। खो देने का उन्हें डर था।···········बुद्ध ने हँस कर कहा—बंधु, तुम्हारा यह पुत्र मेरे काम में सहायता देगा। इसके प्राणों का कुछ भय नहीं है·········"

अम्बपाली कुछ उत्सुकता, कुछ भय से इसे सुन रही थी।

उसने कहा—"इस भिक्खु-धर्म को तुम महान परिवर्त्तन समझते हो। संभव है। यह भी संभव है कि कल्पनाएँ बनाना तुम्हारा स्वभाव हो गया है।"

कुमार गुप्त ने कहा—"अम्बपाली, मैंने देश भर का पर्यटन किया। परन्तु उत्सुक होने पर भी मैं अभी उस भिक्षु को देख नहीं सका हूँ। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मैं देखते ही उसे पहचान सकूँगा। मैं यह नहीं देखता कि मेरे चारों ओर एक बड़ा भारी परिवर्त्तन हो रहा है। संभव है कि भँवर के बीच में होने के कारण हम अपने चारों ओर के वेग से बढ़ते हुये चक्र को देख नहीं पाते हों। यह भी संभव है कि यह चक्र निरंतर बढ़ता जाये और हम सदा एक शांत मध्य बिन्दु पर रह कर शांति और निष्क्रियता का अनुभव करें। यदि उस के ऊपर कोई आँख उठ सके तो वह परिवर्त्तन को देख सकती है, उसको समझ सकती है। परन्तु जो व्यक्ति क्रांति में भाग लेते हैं, वह उसे समझते नहीं!"

वह ठहर गया। मुस्करा कर उसने कहा—"यह अन्तिम वाक्य मैंने तक्षशिला में अपने आचार्य के मुख से सुना था।"

प्रभात की शीतल-मंद समीर चलने लगी थी। कुमार गुप्त की बातों को सुनते हुये अम्बपाली को एक विशेष प्रकार की खीज होती थी परन्तु वह किसी प्रकार भी विद्रोह नहीं करती थी।

उसने धीरे से उठते हुये कहा—"चलो, प्रकोष्ठ में थोड़ी देर में जागरण हो जायगा। भृत्य यहाँ आयेंगे। हम कक्ष में चलें ? या उद्यान में ?"

"उद्यान में ?"—कुमार गुप्त ने कहा।

प्रासाद से मिला हुआ अम्बपाली का छोटा उद्यान था। उद्यान में पहुँच कर अम्बपाली ने कुमार गुप्त से कहा—"एक अपराध हुआ है, कुमार गुप्त ! मैंने तुमसे एक बात छिपाई।"

कुमार गुप्त मौन रहा !

अम्बपाली ने कहा—"मैंने तुम्हारा अपराध किया। बुद्ध वैशाली आये थे। मैं उनके प्रति तुम्हारी इतनी जिज्ञासा नहीं जानती थी।"

कुमार गुप्त फिर भी मौन रहा और वह मौन भार होने लगा।

अन्त में उसने कहा—"यह कब की बात है, अम्बपाली ?"

"यह इसी पक्ष की बात है।"

कुमार गुप्त ने गंभीर साँस ली।

उसने कहा—"अभी समय नहीं है, अम्बपाली। तुम्हारा कोई दोष नहीं। दोषी कोई है ? समय अपने नियम पर चलता है, आवश्यकता पड़ने पर वह किसी भी व्यक्ति के कंधों पर चढ़ जाता है, और उस बेचारे को उसे लेकर घिसटना पड़ता है। फिर उस आदमी के दुर्बल होते ही वह किसी दूसरे तरुण को ढूँढ़ लेता है। अभी हमारी बारी नहीं है, अम्बपाली !"

चौदहवाँ परिच्छेद

वैशाली में बौद्धों का बढ़ता हुआ प्रभाव देख कर यज्ञ के समर्थक पुरोहितों और ब्राह्मणों का उनके प्रति द्वेष बढ़ता गया। प्रति वर्ष यज्ञ कम होते थे। जनता उनकी ओर से अनुत्साही होती जाती थी। परिषद् के कितने ही राजपुरुष बौद्ध। गृहस्थ हो गये थे या उनकी सहानुभूति भिक्षुओं की ओर थी। दो वर्ष से हिरण्यगर्भ के मंदिर पर मधुपर्व के समय का यज्ञ का आयोजन भी बंद करा दिया गया था। अत: यज्ञार्थी यह वर्ग प्रबुद्धकेतु और उनके अनुयायियों का घोर विरोधी था। जब बुद्ध वैशाली आये थे तो नगर के कितने ही पंडित उनसे शास्त्रार्थ करके भिक्षु बन गये थे। और यह काम इतना चुप हुआ था कि किसी प्रकार का उद्वेग नगर में दिखाई नहीं दिया था। अब बुद्ध के पीछे कितने ही अनुभवी स्थविर रह गये थे और वैशाली का बौद्ध-संघ अधिक दृढ़ हो कर प्रचार कर रहा था। भिक्षुणियों ने इस काम में बड़ी सहायता दी।

वैशाली के बाहर ब्रह्मा का एक पुराना मंदिर था। किसी समय इसके यज्ञ इतने समारोह से होते थे कि जैसे राजपुरुषों का अभिषेक हो रहा हो। अब वह निर्जन पड़ा था। जिन ग्रामों का उससे संबंध था उनकी ग्रामीण प्रजा और मंदिर से लगी हुई पृथ्वी पर काम करने वाले हलवाहे उसे धर्म-भोग नहीं दे रहे थे। इस धर्म-बलि के न देने के बहुत से कारण थे। वैशाली के आसपास के गाँवों में फ़सल अच्छी नहीं हुई थी। महामात्य ने इस विषय में कठोरता दिखाई। उन्होंने सेनानी द्वारा राज-कर प्राप्त करने की चेष्टा की। फलत: ग्राम छोड़ कर हलवाहे और खेतिहर दूर के गाँव में चले गये या उन्होंने वृजि-संघ ही छोड़ दिया।

हलवाहों की कमी के कारण बहुत-सी भूमि पर पहले से आधे आदमी लगे थे। उपज कम हो गई थी। फिर कितने ही यज्ञ-मूर्त्ति और ब्रह्म श्रेष्ठ बौद्ध हो गये थे।

इस मंदिर के पुरोहित का नाम परमार्थी भारद्वाज था। आज इतनी रात बीतने पर भी वह जाग रहा था।

आधी रात बीतते ही दो युवक उसके पास आये। वह अपने को काले लबादे से छिपाए हुए थे।

भारद्वाज ने कहा—"ठीक समय है, पुत्रों। तुम्हारी यात्रा शुभ हो। प्रचण्ड ! तुम्हें भय तो नहीं हो रहा ?"

उत्तेजित वाणी में प्रचण्ड ने उत्तर दिया—"नहीं महापंडित, मैं दृढ़ हूँ।"

"और तुम्हें ?"—दूसरे युवक की ओर देखकर महापंडित ने कहा। प्रकाश में काले कपड़े में खुली आँखें चमक उठीं—उस युवक ने कहा—"आपने मेरी परीक्षा कर ली है। क्या महाराज को बलि में बाधक दुष्ट जैन चन्द्रकेतु का स्मरण नहीं ?"

भारद्वाज के मुख पर निश्चय की कठोरता दीख पड़ा। उन्होंने दृढ़ स्वर से कहा—"यह भिक्षु कहता फिरता है कि यज्ञ फूटी नावों की तरह हैं। उसे बताना होगा कि यज्ञों की प्रतिहिंसा कोमल नहीं होती। आज मैं तुम्हें यज्ञ से पूत दो खड्ग देता हूँ।......(उसने अपनी फेंट से निकाल कर दो खड्ग उन्हें दिये)।"

"लो, यह तुम्हारे साहस को दृढ़ रक्खेंगे। इनसे ब्रह्मदेव ने पिछले वर्षों बलि-भोग पाया है। ये मंत्र से अभिषिक्त हैं।"

दोनों ने खड्ग लिये और उन्हें मस्तक लगा कर महापंडित का अभिवादन किया।

महापंडित ने कहा—"मैं यज्ञ के देवता से तुम्हारे लिये प्रार्थना करूँगा। परसों जो गुप्त सभा हुई थी उसने यह भार तुम्हें ही सौंपा। तुम युवक हो। अनार्य बौद्धों के प्रति हम यह धर्म-युद्ध लड़ने चले हैं।"

उसी समय उन्होंने पूर्व के बलि-स्तम्भ के पास एक छाया देखी। वह चौंक पड़े। वहाँ से हट कर वह उस स्तम्भ के पास गये। फिर

दोनों युवकों के पास आकर उन्होंने कहा—"भय की कोई बात नहीं है। परन्तु सावधान रहना। क्या तुम प्रबुद्ध को पहचान सकोगे?"

"उन्हें कौन नहीं जानता"—प्रचंड ने कहा—"बिहार के किस भाग में वह होंगे?"

"तुम पश्चिम की प्राचीर से प्रवेश करोगे।"—महापंडित ने कहा—"उसी से सटी हुई एक छोटी-सी कुटिया है। वह भिक्षु वहीं होगा।"

उसकी आँखें तेज से जलने लगीं।

युवकों के हाथ में कटार थी। यज्ञ-मंडप के वातायनों से आधे से अधिक आकाश पार किये चाँद की किरनें आ कर उसके फलक को झलमला रही थी।

महापंडित ने कहा—"मेरे पीछे आओ।"

और वह उन्हें मंदिर के पीछे के भाग में ले गया। वह भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्थरों से भरा हुआ था जो समय-समय पर हवनकुंड के लिये लाये गये थे। वहाँ जाकर उसने धीमे प्रकाश में टटोल कर एक कुंडा ढूँढ़ा और उसे बल कर अपनी ओर खींचा। हल्की-सी ध्वनि करता हुआ एक पत्थर स्थान से अलग हो गया।

उसने कहा—"यह भूगर्भ है। इस मार्ग से तुम विहार के समीप की अट्टवी में पहुँच सकोगे। इसके अन्दर तुम प्रकाश नहीं ले जा सकोगे परन्तु यहाँ भय कुछ भी नहीं है। आज प्रातः मैं इसमें हो आया हूँ।"

युवकों को रुका हुआ देख कर उसने किञ्चित हास्य से कहा—"इस मार्ग से नर-बलि आती रही है। यह देवता को विशेष प्रिय है। उतरो।"

जब दोनों युवक उसमें उतर गये, तो महापंडित ने उनके कान में झुक कर कुछ कहा और कुछ देर चुप खड़े रहने के बाद उन्होंने पत्थर दूसरे स्थल पर रख दिया।

"यह लोग इसी मार्ग से आ भी सकेंगे"—उन्होंने आप कहा—"परन्तु (कुछ स्मरण करके) मैंने एक छाया देखी थी........"

फिर वह मंदिर के पिछवाड़े से घूम गये और यज्ञ-भवन में आ गये। वहाँ प्रत्येक बड़े, ऊँचे और पकी मिट्टी के बने हुए स्तम्भ के पीछे जाकर उन्होंने देखा। बाहर निकल कर उन्होंने देखा आकाश नक्षत्रों से भरा हुआ था।

"तुम्हारी जय हो! ब्रह्मा! प्रजापति! नास्तिकों पर तुम्हारा दंड गिरे।"

उनकी ध्वनि सभामंडप में गूँज गई।

विशाल प्रांगणों को पार कर के उन्होंने पश्चिम के एक प्रकोष्ठ में प्रवेश किया और एक द्वार पर दस्तक दी। यह एक कक्ष का द्वार था। द्वार खुले और अन्दर तमतमाता हुआ प्रकाश दिखाई पड़ा। एक सुन्दर युवती ने मुस्कान से उसका स्वागत किया। उसके बाल जूड़े के रूप म आगे बँधे हुए थे और वह गेरुवे रंग का वस्त्र पहरे हुए थी।

महापंडित ने अपने पीछे द्वार बंद कर दिया।

कक्ष बड़ा था। वहाँ सौन्दर्य और विलास की सब वस्तुएँ सजी हुई थीं। उसने एक गहरे ताक से एक पात्र उठा कर उसमें एक चाँदी के भूरे घट से कुछ पेय उँडेल कर पिया। वही पेय उसने युवती को भी पिलाया।

तब दोनों एक चौकी की ओर चले। इस पर मृगछाला बिछी हुई थी परन्तु दोनों ओर रेशम के बड़े आधार रक्खे थे।

महापंडित ने कहा, "भैरवी आज मुझे तुम्हारे साथ एक अनुष्ठान करना है। मेरे एक प्रयोग में तुम सहायक होगी।"

उसने मुस्करा कर युवती की ओर देखा और उसकी पीठ पर अपनी अभयस्त उँगलियाँ ले जा कर वक्ष का गेरुवा कंचुकीय खोल दिया। प्रकाश में दो गोरे स्तन अनावृत हो गये।

घड़ी-भर बाद जब वह कक्ष के बाहर निकला तो वह थका और

शांत था। युवती भी उसके साथ थी। उसकी आँखों में उल्लास और गर्व था। वह द्वार पर कुछ देर ठहरा। फिर युवती को वहीं छोड़ कर मंदिर के पिछवाड़े आकर प्रतीक्षा करने लगा। देर तक वह इसी तरह बैठा रहा। वह बार-बार आकाश को देखता। बड़ी देर प्रतीक्षा करने के पश्चात् उसने वह पत्थर उठाया जिसके अन्दर उसने उन युवकों को उतारा था और उसके अन्दर मुँह डाल कर कुछ सुनता रहा। उसकी आँखें झपक गईं।

उसकी आँख घबड़ा कर खुल गई। उसने देखा—मुँह पर काला कपड़ा डाले श्वेत-वस्त्र-धारी कोई व्यक्ति उसकी पीठ पर चढ़ा हुआ है। भय से वह काँप गया।

"अहा हा!" उस व्यक्ति की आवाज गूंज गई—"ब्रह्मा के मंदिर का पुरोहित मद पीता है। ब्राह्मण, तुम्हारा बलि का आयोजन असफल रहा। प्रबुद्धकेतु की हत्या नहीं हो सकी.........।"

भय से वह काँप रहा था। उसने उससे छुटकारा पाने की चेष्टा की परन्तु सब व्यर्थ था।

उसने फिर कहा—"तुम एक स्त्री रक्खे हो। संसार की आँखों पर धूल फेंक कर पांडित्य और कर्मकांड की ओट में अपनी वासना और पैशाचिक रक्त-लिप्सा छिपा रखना चाहते हो। यह भी बुरा नहीं है परन्तु फिर तुम त्यागी, धर्मनिष्ठ, सन्यासी की हत्या का आयोजन करते हो।"

उसका स्वर तेज हो गया।

"तुम पाखंडी हो। तुम्हारे धर्म को लोग छोड़ रहे हैं। उसमें साधना नहीं है, प्रेम नहीं। पंडित, शुष्क ज्ञान और पैशाचिक बल तुम्हें मार रहे हैं।"

उसी समय उसके हाथ का तीक्ष्ण खड्ग प्रकाश में चमका और भयार्त पंडित बिना एक शब्द भी विरोध में कहे चेतना-हीन हो गया। तब वह व्यक्ति ठहाका मार कर हँसा। खुले हुए गुप्त मार्ग से उसी की भाँति ढका हुआ एक व्यक्ति ऊपर आया।

पहले व्यक्ति ने खड्ग को फेंट में कर लिया। उसने कहा—"मैं इसे मनुष्य के रक्त से नहीं रँगूँगा। इसका भय ही जीवन लेने के लिये पर्याप्त है।"

तब दोनों उसी भू-गुफा में उतर कर अंतधान हो गये।

युवती मंदिर के एक कोण में छिपी यह दृश्य देख रही थी। उन दोनों के जाने के बाद वह धीरे-धीरे पत्थर के पास आई और उस पर बैठ कर महापंडित की हवा करने लगी।

उसकी आँखों में भय था।

प्रभात होने में अभी देर थी। उसकी देह में क्रान्ति थी परन्तु वह बराबर वस्त्र डुला रही थी और समय-समय पर चेतना-हीन व्यक्ति के मुँह की ओर देख भी लेती थी। फिर भी उसकी आँखें खुले हुए गुप्तमार्ग पर थी। आज से पहले उसने उसे नहीं देखा था।

घंटे भर बाद भारद्वाज जागा। पास में युवती को देख कर उसने कहा—"तुम यहाँ कैसे हो, भैरवी। क्या तुम्हारे कक्ष में हूँ?"

फिर धीरे-धीरे उसे सब स्मरण हो आया। उसने खुले हुए मार्ग पर दृष्टि डाली और युवती को उसी ओर देखता हुआ पाकर धीरे से कहा—"भैरवी, तुम कक्ष में जाओ। तुम्हारा यहाँ आना ठीक नहीं हुआ!"

और वह स्वस्थ हो कर उठ बैठा। भैरवी निःशब्द मंदिर के कोण को घूम कर अदृश्य हो गई। उसने गुप्त द्वार बन्द किया फिर वह मंदिर के प्रवेशद्वार के पास के कक्ष में गया। वहाँ उसने रात के उन दो युवकों को सोते हुये पाया।

उसकी आहट सुन कर उनमें से एक जाग पड़ा। "प्रचंड"—उसने पूछा—"क्या तुम्हारा अनुष्ठान पूरा हुआ?"

प्रचंड हड़बड़ा कर उठ बैठा।

उसने धीरे से कहा—"गुप्त मार्ग में कोई हमारा पीछा कर रहा था। जैसे ही हम अट्टवी को पार कर प्राचीर पर चढ़ने लगे, हमें उन्होंने घेर लिया। वे कई थे और हम विवश हो गये।......फिर

उन्होंने हमसे कहा—नर-हत्या का पाप केवल नर-हत्या से धुलता है। युवकों, क्या तुम प्राण देने के लिये तैयार हो?"

उन्होंने हमें एक वृक्ष से बाँध दिया।

उन्होंने कहा—"तुम हत्या करने चले थे। तुम्हें इसका दंड मिलेगा। तुम शीघ्र ही बुद्ध के धर्म का ग्रहण करने का वचन दो। …………नहीं तो प्राण!"

उन्होंने हमें मारना आरम्भ किया। इतने में दो पुरुष आये। वे उन्हीं की तरह कपड़ों से ढके थे। उनमें से एक के आगे बढ़ कर कहा—'उन्हें छोड़ दो?'

और हम मुक्त कर दिये गये। गुप्त द्वार से न आकर भय के कारण हम इधर से आये हैं।"

महापंडित ने पूछा—"परन्तु तुम्हें प्रवेश-द्वार कैसे खुला मिला?"

प्रचंड सकपकाया। उसने धीरे से कहा—"कदाचित् यह खुला रह गया था।"

प्रभात का प्रकाश वातायन से आ रहा था। उसके प्रकाश में युवक की सकपकाहट प्रौढ़ महापंडित से छिपी नहीं रही।

उसने दृढ़ कठोर स्वर में कहा—"युवक, तुम साधना से भ्रष्ठ हो। तुमने यज्ञ की देवी को कलंकित किया है। क्या तुमने इस मंदिर में कोई युवती देखी है?"

युवक ने सकपका कर कहा—"पंडित-श्रेष्ठ!"

दूसरा युवक जाग कर भय से उठ नहीं रहा था। उसने सुना, महापंडित ने आगे बढ़ कर कहा—"देखो, द्वार पर मुझे यह कंचुकीय मिला। यह यज्ञ का वस्त्र है जो यज्ञ-कन्या भैरवी को मैंने पहनाया था। यज्ञ की वस्तु को तुमने अपवित्र किया है। सच कहो, द्वार किसने खोला।"

प्रतिहिंसा से उसकी आँखें जल रही थीं। युवक चुप था।

महापंडित ने कहा—"मैं तुम्हारी बातों को झूँठा मानता हूँ।

तुम कायर हो। तुमने धर्म की हानि की है। ·· ············ ··द्वार किसने खोला ?"

प्रचंड ने लजाते हुए कहा—"भैरवी ने !" महापंडित की आकृति उग्र हो उठी। उसने कक्ष पर मुँह कर पुकारा—"भैरवी, ओ चाण्डालिनी ! नराधम, तुझे अपनी उस प्रियतमा की बलि देनी होगी। जूठी वस्तु यज्ञ के देवता के योग्य नहीं।"

उसने सोते हुये युवक को पाँव से ठुकराया—

"तुमने छल किया है। इधर चलो।"

उसकी आँखों में भयंकर हिंसक आकर्षण था। वह उन्हें भयानक दैत्य जान पड़ रहा था। अपने बलिष्ट हाथों से मुट्ठी बाँधे हुए पीछे मुड़ते हुए उसने कहा—"तुम भाग नहीं सकते। मैंने सारे द्वार बंद कर दिये हैं। भैरवी ! ओ चाण्डालिनी !" और प्रभात के शीतल पवन के साथ उसका भयंकर गर्जन हवन-कुंडों और यज्ञस्तम्भों में प्रतिध्वनित होने लगा।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

एक दूसरा मधुपर्व आया और गया। राजगृह से युद्ध के समाचार बराबर आते रहे थे। इस बार भी प्रसेनजित् की पराजय हुई और उसे अजातशत्रु को अपने ग्राम और मूल्यवान रत्न-भूषण देकर संधि कर लेनी पड़ी।

वैशाली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। केवल इतना तो था कि अब नगर-निवासियों के आमोद-प्रमोद पर एक काली छाया नृत्य करती थी। चारों ओर अकाल पड़ रहा था और ग्रामीण प्रजा ने बलि देना बिलकुल बंद कर दिया था। एक और विचित्र बात यह थी कि काले नक़ाबपोश वैशाली की सड़कों के लिये प्रत्येक दिन-रात के दृश्य हो गये। नगर-रक्षकों को उनसे एक अज्ञात भय था। नृसिंह के नाम से लोग काँपते थे।

बौद्ध भिक्षुओं की संख्या बढ़ रही थी।

ग्रामों की उपज से अन्न मिलने का सुभीता नहीं था। नगर में काम नहीं मिलता था। दास-दासी बहुत सस्ते मिल अवश्य जाते थे परन्तु दास से दासी अधिक दामों पर मिलती। यदि उसमें रूप हुआ तो उसका मूल्य बढ़ जाता। भिक्षु बन कर भोजन प्राप्त करना सरल था और अब भिक्षुओं की बढ़ती हुई संख्या नगर के ऊपर भार होने लगी थी।

अम्बपाली के उद्यान में हेमांक, भीमसेन, सूर्यकरण और कुमार गुप्त बैठे हुये थे। स्वयम् अम्बपाली भी थी। उसकी बीच से कढ़ी माँग पुष्प-पराग से भरी हुई थी। उस पर छोटे सफ़ेद मोतियों की चार लड़ें पीछे की ओर, कान के पास से सिर पर जाता हुआ केश-बंध जिस पर दो हीरे टँके हुए थे। उसके कानों में मकरध्वज कुंडल थे। कुमार गुप्त उज्ज्वल वस्त्र पहरे था और उसकी कानों की बालियों में नया हीरा चमक रहा था। हेमांक को अपने वस्त्र का ध्यान ही नहीं रहता। वह कहा करता—"मुझे मेरे प्रयोगों से छुट्टी नहीं, अम्बपाली! यह सजावट बचपन है। मनुष्य जब प्रौढ़ हो जाता है तो इसे छोड़ देता है। मैं ज्ञान-वृद्ध हो रहा हूँ।"

और अम्बपाली की ओर देख कर मुस्करा देता।

जहाँ अम्बपाली बैठी थी उसके सामने सूर्यमणि खड़ा हुआ कुछ पढ़ रहा था। उसके वस्त्र सुन्दर नीले थे; बाल गुम्फ बना कर गले पर दोनों ओर झूल गये। एक विचित्र-सा काला टोपा जिसके दोनों ओर कान के ऊपर एक-एक बड़ा लाल मोती; वह एक बड़ा उत्तरीय पहरे था जो पृथ्वी को छू रहा था।

भीमसेन वैशाली के महारक्षक का शिरस्त्राण धारण किये था। यह धारीदार मूल्यवान वस्त्र को लपेट कर बनाया गया था। उसने उसे टेढ़ा करके मुँह पर रक्खा था और उसकी लम्बी, पूरी लटें उसमें से निकल कर उसके वक्ष पर जहाँ एक बड़ा-सा पदक था,

भूल रही थीं । इस पदक के पास ही उसके खड्ग का सोने का दस्ता दिखाई देता था जिस पर हाथीदाँत से लिखा हुआ था—'महारक्खक।'

बात क्या थी ?

वह कुमार गुप्त का जन्मदिन था। अम्बपाली ने कोई बहाना बना कर कई प्रतिष्ठित राजपुरुषों को निमंत्रित किया था। उसने स्वयम् एक प्रेमगीति-नाट्य लिखा था। यह पद्य में था। प्रेमिका की अवतारणा में नायिका वह स्वयम् थी, प्रेमी नायक कुमार गुप्त। सूर्यमणि ने कवि और मित्र का पार्ट किया था। भीमसेन ने अट्टवी-रक्षक का। हेमांक केवल दर्शक बना रहा। उसे इन बातों में उथलापन दीखता था वह कहता। कहानी यों थी। इन्दुलता कुमार सुदास से प्रेम करती है। वह नगर-सेठ की पुत्री है, परन्तु वाग्दत्ता। कुमार सुदास और इन्दुलता भाग कर अट्टवी में छिप रहते हैं। कुमार का पिता इसे युवराज की उच्छृंखलता समझता है और उसे दंड देने की व्यवस्था करता है। बन में कुमार का मित्र चारुदत्त भी उसके साथ जाता है। महारानी कुमार के वियोग में दुखी है। वह एक तांत्रिक से सहायता लेती है, और अट्टवीरक्खक के द्वारा चारुदत्त और इन्दुलता के पान में मंत्रपूत चूर्ण डलवा देती है। वे दोनों उसके प्रभाव में परस्पर प्रेम करने लगते हैं। राजकुमार ईर्ष्या और दुख से पागल हो जाता है। वह मित्र के विश्वासघात पर दुखी है। एक रात को वह चुपचाप निकल जाता है।······दूर, दूर······कहाँ ? वह अब लौटेगा नहीं! चूर्ण का प्रभाव दूर होते ही प्रेमिका छलना से जागती है और वह योगिनी बन कर सुदास को ढूँढ़ने निकलती है। अन्त में एक अरण्य में नदी के किनारे दोनों की भेंट होती है। महाराज का स्वर्ग-वास हो जाता है और वहीं दूत उसे राजा घोषित करते हैं।

खेल समाप्त होने पर अतिथियों को विदा कर के वे लोग उद्यान में आ जुटे थे। आज सूर्यकरण अपना काव्य सुना रहा था। उसने इसे आज ही प्रातः समाप्त किया था—

कोई दो घंटे तक सूर्यमणि उसे सुनाता रहा। यह स्पष्ट था कि उसका प्रधान उद्देश्य अम्बपाली को अपनी कवि-प्रतिभा का परिचय देना था। कभी-कभी वह उत्तेजित स्वर में पढ़ता और आँखों के कोण दबा कर अम्बपाली की ओर देखता।

अन्त में वह उसे समाप्त करने जा रहा था कि उद्यान के बाहर और प्रांगण में कोलाहल मच गया।

कुमार गुप्त हाल-चाल लेने के लिये प्रांगण में गया। उसने देखा—सारा प्रांगण नरमुंडों से भरा हुआ है। उनके तन पर आधे वस्त्र हैं। उनके पेट और हाथ-पैर सूखे हैं। वे किसी नीच जाति के जान पड़ते हैं। वे कुछ चिल्ला रहे थे।

उसने घूम फिर कर द्वार-रक्षकों को देखा—कोई नहीं था। सब भाग गये थे।

उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया।

उसने चिल्ला कर कहा—"क्यों ? तुम क्या चाहते हो ?"

"अन्न !"

"अन्न !"

"अन्न !"

"अन्न !"

कोलाहल हो रहा था। भिक्षुक कंकाल आगे बढ़ रहे थे।

कुमार गुप्त दृढ़ता से आगे बढ़ा।

उसने कहा—"तुम कौन हो ? क्या चाहते हो ?"

उनमें से एक युवक ने आगे बढ़ कर कहा—"हम अन्न चाहते हैं।"

"तुम कौन हो ?"—क्रोध से लाल पड़ते हुये कुमार गुप्त ने कहा। "हम प्रजा हैं, हम प्रजा हैं" लाखों कंठ चिल्लाए।

अब वे कुमार गुप्त को ठेल कर भीतर घुस गये। वे टिड्डियों के दलों की तरह उमड़े आते थे और उन्होंने प्रकोष्ठ की बहुमूल्य वस्तुओं को तोड़ना-फोड़ना आरम्भ किया। कुमार गुप्त क्रोध से

पागल हो गया। उसने दोनों हाथों से उन्हें ढकेलना आरम्भ किया। अन्त में वह थक गया। एक स्रोत उमड़ रहा था। हार कर उसने उसी युवक को पकड़ लिया जिसने उसके प्रश्न का उत्तर दिया था।

"इसके लिये उत्तरदायी कौन है ?"—उसने पूछा।

"हमें अन्न चाहिये !"

"वह भांडारिक के पास मिलेगा, उद्धत युवक !"—कुमार गुप्त ने उत्तेजित हो कर कहा—"तुम्हें इसके लिये प्रायश्चित करना होगा।" उसने अपना खड्ग निकाल लिया और क्षण भर में युवक के कंधों से रक्त की धार बह कर संगमरमर के फर्श पर गिरने लगी। भीड़ रक्त देख कर लौटने लगी।

सहसा अम्बपाली का स्वर सुन पड़ा—"क्या है, कुमार गुप्त ?" उसने चिल्ला कर कहा—"यह रक्त कैसा है ? और ये लोग कैसे हैं ?"

भीड़ का बहुत बड़ा भाग बाहर निकल चुका हुआ था और जो बचा था उसने अम्बपाली का मीठा तेज, उत्तेजित स्वर सुना और उसकी ओर देखा। वह सिंह के पास वाली चौकी पर खड़ी थी।

"देवी अम्बपाली !"—वे प्रणत हो गये—"हमें अन्न दे, हमें जल दे !"

और तब अम्बपाली को सहसा ध्यान हो आया। अरे, ये ग्रामीण तो नहीं हैं, या नगर के अकाल-पीड़ित !

उसने कुमार गुप्त से कहा—"उन्हें रहने दो। क्या तुमने इसे गहरा घाव दिया है ?"

कुमार गुप्त मौन था।

अम्बपाली ने चिल्ला कर कहा—"तुम मूर्ख हो ! तुमने मेरी सब बहुमूल्य वस्तुएँ तोड़ फोड़ डालीं। मेरे प्रासाद से निकल जाओ !"

एक बूढ़े ने उसके पैर पकड़ लिये।

"अन्न !" उसने कहा।

"तुम्हें अन्न मिलेगा—प्रासाद के बाहर!" किंचित कठोर स्वर में अम्बपाली ने कहा।

और कुमार गुप्त ने विस्मय से देखा—वे उसे प्रणाम करके उससे अन्न-जल माँगते हुए प्रांगण से और धीरे-धीरे प्रासाद से बाहर चले गये। केवल वह युवक और एक युवती रह गये। युवक लड़खड़ा कर गिर पड़ा था और युवती उसके कंधे के घाव को चूस रही थी।

अम्बपाली कक्ष के भीतर से कोई द्रव लाई—"क्या बहुत चोट लगी है?" उसने युवक से पूछा—"इस प्रकार प्रासादों में घुसने का साहस तुम कैसे करते हो?"

उसने वह द्रव युवती की ओर करते हुये कहा—"इस पात्र के द्रव का क्षण भर मलना। यह स्वस्थ हो जायगा।"

युवक अर्धमूर्छित हो रहा था। युवती उसे सहारा देकर बाहर लिये जा रही थी।

अम्बपाली कुमार गुप्त की ओर मुड़ रही थी। उसने पूछा "तुम्हारा नाम?"

"सुभागा।"

"तुम यहीं ठहरो", अम्बपाली ने कहा—"मैं तुम्हें अन्न दूँगी और धन।"

मुड़ कर उसने कुमार गुप्त से कहा—"तुमने शीघ्रता की।"

फिर वे उद्यान में गये। वहाँ कोई नहीं था। कदाचित् राज-मार्ग से वह उधर गये थे।

अम्बपाली प्रकोष्ठ में लौट आई।

इसी समय कई सैनिकों ने प्रांगण में प्रवेश किया।

उन्होंने चिल्ला कर कहा—"द्वार पर कोई नहीं है? प्रतिहारी! क्या महारक्खक कुमार भीमसेन यहाँ हैं।

अम्बपाली बाहर निकल आई। उसने एक बार घायल युवक और युवती की ओर देखा। फिर सैनिकों की ओर।

सैनिकों ने उसका सैनिक ढंग से अभिवादन किया। उन्होंने कहा—"देवी अम्बपाली की जय हो! श्रोहट्ट के हलवाहों ने विद्रोह किया है। उन्होंने ग्राम-भोजक का बध कर डाला है। अब वह राज्य-उद्यान की ओर बढ़ रहे हैं। अट्टवी के आरक्खक शस्त्रों द्वारा उन्हें रोकने को तैयार हैं। देवि, महारक्खक कहाँ हैं?"

अम्बपाली ने पीछे मुड़ कर देखा। शायद वह कुमारगुप्त को खोजती थी। वह उद्यान में रह गया था। क्षण भर वह चुप रही। फिर धीरे-धीरे उसने कहा—"सैनिकों, महारक्खक यहाँ से चले गये।"

सैनिकों ने बिना कुछ कहे उसका सैनिक ढंग पर अभिवादन किया और बाहर हो गये।

प्रांगण में केवल वह युवक और युवती रह गये।

अम्बपाली ने देखा। भृत्य नहीं हैं, रक्षक नहीं हैं, प्रतिहारी नहीं हैं, विजयवर्म नहीं हैं। ये सब क्या हुए?

पीछे मुड़ कर उसने कक्ष में प्रवेश किया।

उसमें से होकर अंतः कक्ष में जाने पर उसने चन्द्रसेना को भय से भीत एक बड़े देवदारु-स्तम्भ के पीछे छिपे देखा।

"चन्द्रसेना!"—उसे हँसी आ गई—"यह तुम हो! पगली, ये जनता-जनार्दन तुझे बरने आये थे।" पीली लड़की भय से अधिक पीली पड़ गई थी। अब वह धीरे-धीरे स्तम्भ के पीछे से निकली।

सोलहवाँ परिच्छेद

हवन-कुंड की अग्नि प्रज्वलित थी। याज्ञिक उसमें तिल, जौ, मदिरा और मांस की समिधा दे चुका था।

एक स्तम्भ से भैरवी बँधी थी। वह अर्ध-मूर्छित अवस्था में थी। प्रचंड और उसका साथी युवक यज्ञ-कुंड के पास बैठे थे। यज्ञ-

कुंड का आकार ६'×५'×६' था। यज्ञ-मंडप में जितने भी कुंड थे, यह उन सब से बड़ा था।

याज्ञिक के मुख पर हर्ष, उल्लास, उत्तेजना और व्यवसाय के चिन्ह थे। वह कठोर हो रहा था।

उसने ऊँचे कलशों और उनसे भी ऊँचे आकाश की ओर देखते हुए कहा—"तुम धन्य हो, देवता ! आज तीन वर्ष बाद तुम्हारा प्रसाद मिल सकेगा। उनमें श्रद्धा नहीं, उनमें भक्ति नहीं, उनमें देवता की आस्था नहीं। ब्रह्मा, तुम अपना कुलिश उन पर गिराओ !"

भक्ति-भाव से उनकी आँखें मुँद गईं।

वह देर तक ध्यान-मग्न रहा।

फिर उसने आँखें खोलीं। उनका आकर्षण कहीं अधिक हो गया था।

"युवक, खड्ग लो !"—उसकी कठोर ध्वनि से मंदिर गूँज उठा।

कोई हिला नहीं।

"युवक खड्ग, लो !"

उसकी ध्वनि और कठोर हो गई।

कोई हिला नहीं।

उसने अपनी जलती आँखें उनकी आँखों में डाल दीं। और क्षण भर उनकी ओर निस्तब्ध देखता रहा। फिर उसने और भी कठोर स्वर में कहा—

"खड्ग लो !"

अबकी बार दोनों युवक सरके। वे महापंडित की भीषण आकर्षण-शक्ति में बँध गये थे। लाचार, निरीह, स्वयम्-चालित कल की तरह वह खड्ग लेकर आगे बढ़े। याज्ञिक उन्हें बराबर देख रहा था, स्रुवा से स्तम्भ में बँधी युवती की ओर इशारा कर

उन्होंने भैरवी को खोला और बलि-वेदी के पास ले जाकर बिठा दिया।

याज्ञिक अथर्ववेद की कुछ ऋचाएँ पढ़ने लगा। वह अपने काम में इतना व्यस्त था कि क्षण भर के लिये उसका ध्यान भैरवी और युवकों की ओर से एकदम हट गया।

मंदिर में शांति थी। दुपहर ढल रही थी। केवल लाटों और यज्ञ के देवदारुकाष्ठ और समाधि की वस्तुओं के जलने का शब्द ऊँचा उठ रहा था।

याज्ञिक ने आँखें खोली। उनमें दो अग्नि-पिंड जल रहे थे। परन्तु उसकी मुख-मुद्रा शांत थी।

उसने कहा—"बलि हो!"

युवती काँप गई।

युवक काँपे।

"यह क्यों?" याज्ञिक ने क्रोधित होकर कहा, "क्या तुम यज्ञ का विरोध करते हो? क्या तुम देवता का निरादर कर सकोगे?"

वह खड़ा हो गया—

"तुम काँप रहे हो ····" उसने ठहाका दिया "देवता तुम्हें अपना लोक दे। प्रचंड, आघात करो।"

प्रचंड ने कुछ करने की मुद्रा नहीं दिखाई तो उसने आगे बढ़कर उसके हाथ का खड्ग ले लिया।

अब उसने कुछ निश्चय कर लिया था। वह धीरे-धीरे बलि-वेदी की ओर बढ़ा।

सहसा प्रचंड ने विरोध किया। "आचार्य," उसने कहा—"वैशाली की परिषद् ने नर-बलि को अभियोग माना है। तुम्हें राज-दंड भुगतना पड़ेगा।"

"राजदंड!"—क्षण भर याज्ञिक ठहर गया, फिर उसका अट्टहास मंदिर-स्तम्भों, प्रकोष्ठों और कक्षों से टकराने लगा।

उसने कहा—"ब्रह्मा के मंदिर में एक शासक है—ब्रह्मा का

पुरोहित। उद्धत युवक, आज पुण्य-पर्व है। देवता की हवि बन कर तुम जन्म-जन्मान्तर के लिये सुख के भोगी बन सकते हो! क्या तुम तैयार हो?"

उसकी ओठों पर कुटिलता नाच उठी। विशाल. बलिष्ठ बाहुओं को सिर के ऊपर उठा कर उसने कहा—"देवता, तू धन्य है!"

उसी समय पश्चिम के पकी हुई छोटी ईंटों के विशाल स्तम्भ के पीछे से उसी तरह नक़ाबपोश मूर्त्ति उसके सामने आई। पुरोहित उसे देख कर काँप गया।

उसने चिल्ला कर कहा—"ब्रह्मा के मंदिर में तुम कैसे? तुम कौन हो?"

नक़ाबपोश प्रौढ़ व्यक्ति जान पड़ता था। गंभीर और निश्चित् पदों से चलता हुआ वह यज्ञ कुंड तक आ गया।

उसने अपना अवगुंठन उलट दिया और धीरे, तुले हुए, शब्दों में कहा—"अब निश्चित है कि तुम इस अनुष्ठान में सफल नहीं हो सकते!"

पुरोहित स्तब्ध रह गया। उसका खड्ग उसके हाथ में काँपने लगा! उसने साहस छोड़ दिया।

आगन्तुक खिलखिला कर हँसा। उसके इशारे पर युवकों ने भैरवी को उठा लिया और वह उसके पास जाने लगे।

नृसिंह हँसा। उसने कहा—"नृसिंह दस्यु है। वह न बौद्ध है, न ब्राह्मण। इन युवकों के हाथ में खड्ग दो और तब बलि कर सको तो तुम्हारे देवता प्रतापवान हैं। दस्यु-श्रेष्ठ नृसिंह कायरता को पुण्य नहीं मानता।"

पुरोहित ने कहा—"इस बलि में विरोध मत करो, दस्यु! क्या तुम जनता को अकाल-पीड़ित नहीं देखते? क्या तुम वर्षा का कष्ट नहीं देखते? रोग, शोक, मृत्यु, अन्न-कष्ट—यह देवता का प्रकोप है! भिक्षुओं ने बलि बंद करा दी है। देवता को हवि नहीं मिलती। वह रुष्ट हो गये हैं? क्या तुम वैशाली को उजाड़ देखना चाहोगे?"

उसके स्वर में एक भीषण विश्वास था जिसने क्षण भर के लिये दस्यु को भी विचलित कर दिया। परन्तु शीघ्र ही सँभल कर उसने कहा—"तुमने बदलते हुए समय को नहीं पहचाना, भारद्वाज! देवता किससे प्रसन्न होते हैं। यह कोई भी नहीं कह सकता। तुम देख रहे हो कि जनता बलि के विरुद्ध हो रही है। हम जीवन को ले नहीं सकते तो जीवन को दें क्यों? मनुष्य की सब से प्रिय और विशिष्ट वस्तु उसकी अपनी आत्मा है। वही हम क्यों न बलि करें? स्वार्थों का त्याग—उपनिषदों के मनीषियों ने इसे भो तो बलि कहा है।"

मुस्कराते हुए पुरोहित ने कहा—"ब्रह्मा के मंदिर के पुरोहित को दस्यु से शिक्षा नहीं लेनी होगी। नृसिंह, तुम बुरे समय आये। देवता जाग गये हैं।"

वह उत्तेजित हो उठा—"यज्ञ की हुताग्नि ज्वालाओं की जिह्वा निकाल रही है। वह समिधा से संतुष्ट नहीं होगी, नहीं होगी। तुम नहीं देखते, मैं देख रहा हूँ। देवता जाग उठे हैं। वह स्वाहा की ओर क्रोध से देख रहे हैं। किसने उन्हें छेड़ दिया, हाय! स्वाहा! देवि! तुम मेरी ओर क्या देख रही हो। अग्निदेव, ब्रह्मा की बलि नहीं होगी... ..." और उसने जलती हुई आँखों से युवकों, भैरवी और नृसिंह को देखा।

उसने चिल्ला कर कहा—"नरबलि होगी! यज्ञ के लिये प्रज्वलित की हुई अग्नि यों ही नहीं बुझ सकेगी। वह बलि लेगी, बलि लेगी!"

खड्ग दृढ़ करके वह उनकी ओर झपटा।

नृसिंह ने उसे आगे बढ़ कर लिया। उसके खड्ग के प्रहार से पुरोहित का खड्ग बज उठा और उसकी झनझनाहट ने उसका हाथ बुरी तरह कँपा दिया।........

नृसिंह ने पीछे हट कर कहा—"यहाँ वैशाली का व्योहारिक उपस्थित है। पंडित, तुमने राज-नियम का उल्लंघन किया है।

तुमने राजाज्ञा के विरुद्ध यज्ञ का आयोजन किया। तीन व्यक्तियों को तुमने बलि बनाना चाहा और......"। वह चुप हो गया।

सामने स्तम्भों के पीछे से सैनिक बाहर निकल रहे थे।

एक क्षण में पुरोहित ने परिस्थिति देख ली। वह बंदी था। वह यज्ञ-कुंड की ओर लौट गया। उसने उसके किनारे पर खड़े हो कर कहा—"तुम्हारा नाश हो! तुम पर वज्र गिरे!" सैनिक आगे बढ़ रहे थे।

"तुम्हारा नाश हो!"—उसने अपना खड्ग पूरी शक्ति से ऊँचा तान कर कहा—"वैशाली मिट्टी में मिल जायगी। तुम्हारी सन्तानें तुम्हारे कर्मों को धिक्कारेंगी। ब्रह्मा बोल रहा है। उसकी बात झूठ नहीं होगी।"

सैनिक हवन-कुंड तक पहुँच गये। सहसा पुरोहित ने चीत्कार की—"ब्रह्मा, देवता! ब्रह्मा, देवता!" और वह एक डग पीछे हट गया। अब वह यज्ञ की ज्वालाओं में जल रहा था। उसके शरीर से लपटें निकल रही थीं।

सैनिक स्तब्ध!

नृसिंह स्तब्ध!

यह क्या हुआ? क्या इसके लिये कोई तैयार था?......... "वैशाली मिट्टी में मिल जाएगी!"............ और अन्तिम बार ब्रह्मा को पुकार कर उसके मंदिर के पुरोहित ने अपने कंठ पर खड्ग का प्रहार किया।

ब्रह्मा को बलि मिल गई। वे संतुष्ट हो गये। हवन-कुंड से दुर्गन्ध और नीला धुँआ निकल रहा था।

नृसिंह ने कहा—"यह अन्तिम बलि होना चाहिये!"

बोहारिक और सैनिकों के बीच में से होता हुआ, गंभीर मुद्रा बनाए, वह उन्हीं स्तम्भों में अदृश्य हो गया।

सत्रहवाँ परिच्छेद

इसी वर्ष परिषद् का निर्वाचन था। पिछले वर्ष इसके लिये धीरे-धीरे तैयारी होती रही थी। प्रजातंत्र के लिये यह निर्वाचन बड़ा महत्त्वपूर्ण था। राजपुरुषों में षड्यंत्र और दाँव-पेंच चल रहे थे। वे ७८०७ राजपुरुष कौन हों ?

वैशाली नगरी के बीच में श्वेत संगमरमर की एक पोखरनी थी। इसमें काले स्फटिक की सीढ़ियाँ उतरतीं थीं। चारों ओर पत्थर और छोटी ईंटों के बने सिंहासन थे जिन पर वर्षा और धूप से बचाने के लिये काष्ठ के स्तम्भ और उन पर काष्ठ की मीनाकारी की हुई छत लगा कर छाया की गई थी। इसी पुण्य-पोखरनी में वैशाली के राजपुरुषों का अभिषेक होता। जनकों के अभिषेक के लिये प्राचीन काल में जो वैदिक रीतियाँ बरती जाती थीं, उन्हीं का अनुसरण किया जाता। कुछ समय से बलि का कर्मकाण्ड भी इससे संबंधित हो गया था परन्तु इस वष बौद्धों के प्रभाव से बलि की व्यवस्था नहीं थी।

अजातशत्रु के सिंहपद वृजि-संघ में अपना काम कर रहे थे। अनेक निगममुखों और सेट्ठियों के विषय में यह अनुमान किया जा सकता था कि उन्हें अजातशत्रु से सहायता मिल रही है। उनका दृष्टिकोण वैशाली के प्रजातंत्र की प्रतिष्ठा और दृढ़ता बढ़ाना नहीं था।

उस दिन आकाश पर मेघ छाये हुये थे। अकाल-कष्ट से पीड़ित जनता ने उन्हें देख कर हर्ष-ध्वनि की। राजपुरुषों का चुनाव हो गया था और अपने प्रभाव के कारण कितने ही पुराने राजपुरुष चुन लिये गये थे। इन चुने हुए राजपुरुषों में इस वर्ष सूर्यमणि भी एक था। आमात्य स्वर्णसेन और उनके पुत्र भीमसेन पुनः निर्वाचित हुए थे। प्रत्येक श्रेणी और निगम का मुखिया इस परिषद् का सदस्य होता और इसके सिवा ग्राम और नगर की भिन्न-भिन्न बीथियों से निर्वाचित सदस्य परिषद् के सदस्य माने जाते थे।

निर्वाचन हो गया था। उसके कारण नगर में महीनों से हल-

चल थी। राज्याभिषेक का संस्कार बाक़ी था। जनता बहुत देर से अभिषेक-स्थल को घेरे हुए थी। दोपहर होते सब निर्वाचित राजपुरुष मंडप में इकट्ठे हुए और ब्राह्मण मंत्रोच्चार करने लगे।

अभी यह मंत्रोच्चार हो रहा था कि अभिषेक-स्थल के द्वार पर कोलाहल मच गया। राजपुरुष आपस में घुलमिल कर बातें कर रहे थे। पहले तो उन्होंने उस जनरव की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु धीरे-धीरे जब जनरव कठोर हो गया तो उनमें से कुछ सिंहद्वार पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो देखा उसे देख कर उन्हें आश्चर्य और भय हुआ।

वहाँ धीरे-धीरे वैशाली के ग्रामों के कृश कंकाल इकट्ठे हो रहे थे। सैकड़ों हलवाहे और भूमिपति अपने विचित्र यंत्रों को कंधे पर चढ़ाए हुए। जिनके पास यंत्र नहीं थे उनके कंधों पर उनके बालबच्चे जो उन्हीं की तरह सूखे, छाया-से, जान पड़ते थे। आगे जो भूमिपाल था उसके कंधों पर एक बड़ा हल था। वे बड़ी उत्तेजना से बातें कर रहे थे।

एक राजपुरुष ने पूछा—"यह लोग क्यों इकट्ठे हो रहे हैं? तुम क्या चाहते हो?"

हल वाले भूमिपाल ने कहा—"श्रीहट्टी, गोशिर, राजशिला, शालार और अन्य ग्रामों के हलवाहे और भूमिपाल चाहते हैं कि परिषद् उनके कष्टों को समझ ले और उन्हें दूर करने की ओर ध्यान दे।"

"तो यह कौन-सा ढंग है?" —दूसरे राजपुरुष ने कहा—"क्या तुम समझते हो वैशाली की परिषद आँखें बन्द करके शासन करेगी?"

"हम इन ग्रामों से चुने हुए सदस्यों में विश्वास नहीं करते। उन्होंने धन और घूस द्वारा निर्वाचन प्राप्त किया है। हम उनका विरोध करेंगे।"

थोड़ी देर में मंडप भर में यह खबर पहुँच गई कि बाहर एक

विरोधी जनता इकट्ठी हो रही थी। वैशाली के प्रधान राजपुरुषों ने गोष्ठी की—क्या किया जाए ?

उन्होंने रक्षकों को आज्ञा दी, सिंह-द्वार बन्द कर दिया जाए और नगर-सैनिक उसकी रक्षा करें।

"क्या नगर से और सैनिक बुलाने होंगे ?"

"नहीं, मैं समझता हूँ वे लोग शांत रहेंगे। उनके पास शस्त्र तो हैं नहीं।"

"परन्तु वे भयंकर जान पड़ते थे। प्रेत-जैसे। उनकी आँखो में विद्रोह है।"

मंडप में राज्याभिषेक आरम्भ हो गया था। हवन-कुंड में अन्न, धान्य और तिल-घृत की समिधा पड़ रही थी। आचार्य और यज्ञकर्त्ता मंत्र के साथ उसमें आहुति देते थे। राज-ब्राह्मण पोखरनी के पवित्र जल को नये राज-पुरुष पर छिड़कता और मंत्रपूत यष्टि को उसके मस्तक से छुलाता। फिर वह उसको राजकीय वस्त्र देता और उसके मस्तक पर टीका करता। द्वार पर विरोध अधिक तीव्र होता हुआ जान पड़ता था। एक द्वार-रक्षक ने आकर सूचना दी—"सिंहद्वार के बाहर जनता का एक स्रोत उमड़ रहा है। द्वारपालिकों के लिये उसका नियंत्रण करना कठिन हो रहा है।"

लिच्छिविराज ने ऊँचे स्वर में कहा—"वैशाली के राजपुरुषों, क्या तुम जनता के इस विरोध को उचित समझते हो ?"

एक राज-पुरुष ने उठ कर कहा—"भन्ते, मैं श्री हट्टी से निर्वाचित हुआ हूँ। वहाँ के भूमिपाल दास्यु-श्रेष्ठ नृसिंह से मिले हुये हैं वे राजाज्ञा का उल्लंघन करते हैं।"

"क्या उन्हें कष्ट नहीं है ?"

पहले राजपुरुष ने कहा—"कष्ट है, परन्तु परिषद ने पिछले वर्ष उसे दूर करने की व्यवस्था कर दी थी। उसने सब भंडार अन्न-पीड़ितों के लिये खोल दिये। बलि में भी कमी कर दी थी। यदि वे

राजपुरुषों के पास सविनय आयें तो वह अवश्य उनके कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे।"

"हमें उनकी बात सुनना चाहिये—"भीमसेन ने कहा—"हम प्रजा को अशांत नहीं रहने दे सकते। वैशाली की राजनीतिक परिस्थिति इतनी अच्छी नहीं है कि वह भीतर का विद्रोह सँभाल सके।"

लिच्छिविराज ने कहा—"हम उनकी बलि क्षमा करेंगे और उनके स्त्री-पुरुषों को वैशाली के राजभंडार से अन्न मिलेगा!'

प्रतिहारी लिच्छिवि-राज का संदेश लेकर द्वार पर चले गये।

राज्याभिषेक का अनुष्ठान फिर पहली भाँति चलने लगा।

"क्या वे चले गये?"

"हाँ, वे चले गये हैं। इतनी बड़ी भीड़! वे लोग उत्तेजित हो उठे थे। उन्होंने द्वार पर हल-फावड़ों से प्रहार करना चाहा था परन्तु नगर रक्षकों ने उन्हें रोक दिया। लिच्छिविराज का संदेश सुन कर उस हलवाहे ने उन्हें समझाया और वे वैशाली के ऊंचे प्रासादों को घृणा से देखते हुए और हवा में अपने विचित्र यंत्र घुमाते हुए वैशाली से बाहर चले गये।"

"इसमें अवश्य नृसिंह का हाथ है"—एक राजपुरुष ने कहा—"क्या तुमने यह नहीं सुना कि आमात्य स्वर्णसेन को खड्ग में लिपटा हुआ उसका एक पत्र मिला है?"

"क्या वह आमात्य को क्षमा नहीं करेगा?"

पहला राज-पुरुष मुस्कराया!

उसने कहा—"यौवन के दिन उच्छृंखलता के दिन होते हैं। दस्यु को उन्हें क्षमा कर देना चाहिये।"

वह आप युवक था।

उसी समय हवा तेज चलने लगी। आकाश में जो बादल छितरे हुए पड़े थे, वह अब मिल गये थे। घने, सफ़ेद बादलों से आकाश मुँद गया और तेज हवा के झोंके हवन-कुण्ड की लौ को झकझोरने लगे।

अभिषेक संस्कार के बाद जब परिषद वैशाली के राजपथ पर निकल रही थी तब हवा शांत हो गई थी। परन्तु हलकी फुआर पड़ने लगी थी। राजपुरुषों के रथ धीरे-धीरे चल रहे थे और जनता उन पर फूल-मालाएँ फेंकती थी। ऊपर बादल घुमड़ रहे थे और उन्होंने जनता में एक नया उत्साह भर दिया था। हजारों राजपुरुषों की वह परिषद सचमुच देवताओं की सभा-सी जान पड़ती थी।

इसी को लक्ष्य कर के बुद्ध ने कहा था—"जिन्होंने देवताओं की सभा नहीं देखी है वह लिच्छवियों की इस परिषद को देख कर उसका अनुमान कर लें।"

सहस्रों तूर्यों और लाखों कंठों की जयकार के शब्द बादलों से भरे हुए आकाश में गूँज रहे थे। अकाल-पीड़ित ग्रामों से जो हलवाहे आये थे, वे अपने विचित्र यंत्रों को कंधों पर रक्खे हुए यहाँ-वहाँ दृश्य देखते दिखाई पड़ते। उन्हें वैशाली के वैभव पर आश्चर्य था। जैसे वे स्वप्न देखते हों।

अट्ठारहवाँ परिच्छेद

सूर्यमणि और कुमारगुप्त उस दिन के नाटक में उसके समीप आ गये थे कि मुखर सूर्यमणि चतुर और अनुभवी कुमारगुप्त से अपने मन की बात छिपा नहीं सका। कुमारगुप्त को इसका आभास पहले भी था। परन्तु अब उसके मन में वह खीज उठी जो हेमांक की ओर थी। हेमांक को तो वह क्षमा भी कर सकता था। वह इतना साहसी, विचित्र, अद्भुत पुरुष था, परन्तु इस सुन्दर और आकर्षक परन्तु स्त्रैण युवक के प्रति उसके द्वेष ने तीव्र रूप ग्रहण कर लिया। उसकी प्रतिहिंसा जाग पड़ी। उस दिन के नाटक के पीछे उसे किसी अदृश्य शक्ति का हाथ जान पड़ा। क्या सचमुच यह युवक उसके और अम्बपाली के बीच में आ रहा है? और आ रहा है तो बुरा ही क्या है? क्या वह स्वयम् विरति के पथ पर नहीं

बढ़ रहा है? क्या उसे अम्बपाली के क्षुद्र स्नेहपाश से निकल कर विराट विश्व से मिलना नहीं है? वह विचलित हो उठा। यह जीवन कितना विचित्र है? क्या वह स्वयम् अम्बपाली को छोड़ने की बात नहीं सोच रहा था? ऐश्वर्य, विलास और मदिरा-पान से वह ऊब गया था। आज जब और-और व्यक्ति उसके और अम्ब-पाली के बीच में आने लगे तो उसमें स्पर्धा जगी, उसका जीवन चेतन हो गया। यदि वह चला जाय तो फिर अम्बपाली के जीवन में कोई आये!—परन्तु·····यहाँ वह रुक गया। बहुत समय तक वह इस परन्तु को ठीक-ठीक निश्चित नहीं कर सका। फिर उसने सोचा—"परन्तु उस अम्बपाली को भी इस परिवर्त्तन में भाग लेना है। उसे उठना है। जब उसे गिराने में उसका हाथ रहा है तो फिर उसको उठाना भी उसका कर्त्तव्य है। नहीं-नहीं······वह किसी को उससे प्रेम नहीं करने देगा।"

तर्क ठीक नहीं था। परन्तु हृदय को आगे रख कर किये तर्क कभी ठीक भी नहीं होते।

हेमांक ने अम्बपाली के भवन में अधिक आना-जाना छोड़ दिया और सूर्यमणि को अकेला आना पड़ता। वह उसे अपनी रचनाएँ सुनाता और कितनी ही तरह की बातें करता। वह व्यवहार में खुल गया था। अम्बपाली स्वयम् कवि थी। और कदाचित्, अज्ञात रूप से, इसी कारण वह इस युवक में अधिक-अधिक अनु-रक्त होती जाती थी। कुमारगुप्त ने अम्बपाली के इस परिवर्त्तन को ध्यान से देखा। उसने एक बार फिर राजगृह जाने की बात उठाई परन्तु इस बार भी अम्बपाली ने आपत्ति की। यह कैसा प्रेम है। वह कुमारगुप्त को छोड़ना नहीं चाहती और फिर भी एक दूसरे युवक की ओर बढ़ रही है!

बलि बंद अवश्य हो गई थी परन्तु वैशाली के विनोदी स्वभाव ने बलि से उत्पन्न उत्तेजना की पूर्ति एक दूसरे ढंग से की थी। इस उत्तेजना का नया रूप क्या था? एक विशाल, गहरा, अखाड़ा खोदा

जाता। इतना गहरा कि कुँआ-सा जान पड़ता। उसके ऊपर दर्शकों के बैठने के स्थान होते। समय-समय पर खेलों का आयोजन होता। भैंसे, भेड़ें और अन्य पशु छोड़े जाते और वैशाली की आमोद-प्रिय जनता उन निरीह पशुओं का युद्ध देखती। उन्हें उत्तेजित करने के लिए मद्-पान कराया जाता और जब उनकी अस्थियाँ टूट जातीं और उनके शरीर से रक्त बह चलता तो जनता हर्ष से करतल ध्वनि करती। इस विनोद-खेल को समाज कहा जाता।

ऐसी ही समाज के अवसर पर सूर्यमणि ने अम्बपाली से एक ऐसा व्यवहार किया जो कुमारगुप्त को बुरा लगा।

कुमारगुप्त और अम्बपाली साथ-साथ विनोद-स्थल में पहुँचे। वहाँ उनकी सूर्यमणि से भेंट हुई और समाज देखने के लिये वे पास ही बैठ गए।

दो भैंसे छोड़े गये। मदिरा-पान से उनकी आँखें आरक्त थीं। और वे अपने सींगों को पृथ्वी तक झुकाए हुए क्रुद्ध हाथियों की तरह बढ़े। जनता ने हर्ष से चीत्कार की। उनके सिर टकराने से भयंकर शब्द हुआ जो ऊपर उठ कर हवा में गूँजने लगा। दर्शकों में कोलाहल मच गया। सहसा एक भैंसा पृथ्वी पर लोट गया।··· कुमारगुप्त ने देखा—अम्बपाली काँप उठी है। उसने सहम कर सूर्यमणि का हाथ पकड़ लिया है। फिर उसने उधर से दृष्टि फेर ली। गिरा हुआ भैंसा फिर उठा और उसने अपने विरोधी पर फिर प्रहार किया। इस बार उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी और प्रतिद्वन्दी को अखाड़े के अंत तक खदेड़ता ले गया। कुमारगुप्त ने एक दीर्घ साँस छोड़ी और अम्बपाली की ओर देखा। वह स्निग्ध भाव से सूर्यमणि की ओर देख रही थी। और सूर्यमणि उसका हाथ दबा रहा था।·······सूर्यमणि ने उसकी ओर देखा। वह सिहम गया। कुमारगुप्त ने दृष्टि फेर ली और फिर युद्ध देखने लगा। समाज बड़ी देर तक चलता रहा। परन्तु उसका मन नहीं लगा। वह विचलित हो उठा।

जब वह अम्बपाली के साथ लौटा तो उसकी मुद्रा गंभीर थी।

अम्बपाली ने पूछा—"क्यों ? मौन क्यों हो, कुमारगुप्त ?"

कुमारगुप्त ने उसकी ओर दृढ़ता से देखा। उसने कहा—"चक्र पर चढ़ना और उतरना जीवन का नियम है, अम्बपाली !" और वह इस वाक्य की सार्थकता और इससे छिपे व्यंग की बात सोच कर मुस्कराया !

अम्बपाली ने धीरे से कहा—"मैं तुम्हारा अर्थ नहीं समझती।"

"समझ जाओगी आप।"

फिर वे चुपचाप अपने कक्ष में चले गये। जीवन में न जाने कोई कैसे आ जाता है और कैसे निकल जाता है ! परन्तु यह आवागमन सत्य है। तब क्या कुमारगुप्त अम्बपाली के जीवन से निकल रहा था ?

यह कठिन प्रश्न था ?

परन्तु धीरे-धीरे कोमल कवि सूर्यमणि कठोर हो चला और एक दिन वह कुमारगुप्त के सामने खड़ा हो रहा।

उसने कहा—"कुमारगुप्त, तुम वैशाली की राजनीति के सम्बन्ध में कुछ जानते नहीं। तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है। क्या तुम समझते हो कि प्रजातंत्र दुर्बल है।......क्या......"

कुमारगुप्त ने कहा—"मैं अपने राजगृह के अनुभव से कहता हूँ कि वैशाली की प्रजातंत्र-सेना अजातशत्रु की विशाल सेना के आगे ठहर नहीं सकती।"

"वैशाली के आमोद-प्रमोद पर न जाओ, कुमारगुप्त"—युवक कवि ने कहा—"जहाँ जीवन है वहाँ उसके स्वप्न भी होंगे, अतृप्ति भी होगी, प्यार भी होगा। यही समय पड़ने पर वैशाली का बल होंगे।"

कुमारगुप्त हँसा।

उसकी यह हँसी दूसरे को बुरी लगी। सूर्यमणि ने भृकुटि पर बल लाते हुये कहा—"तुम्हें दूसरे का निरादर करने का अधिकार

नहीं है। क्या तुम इसलिये हँस रहे हो कि मैंने यह कैसी बात कही !"

कुमारगुप्त भोंड़े ढंग से हँसता ही रहा। जैसे वह उसे तुच्छ, नगण्य ही समझ रहा हो।

सूर्यमणि उत्तेजित हो गया। उसने कहा—"क्या तुम जानते नहीं तुम स्वयम् वैशाली के अतिथि हो। तुम राजगृह के नागरिक हो।"

"राजगृह का नागरिक !"—कुमारगुप्त अट्टहास कर उठा।

सूर्यमणि की क्रोध की आग को हवा मिली।

"मैं राजगृह के सेनाध्यक्ष का पुत्र हूँ, वैशाली की परिषद के राजपुरुष"—कुछ व्यंग से कुमारगुप्त ने कहा—"तुम्हारी परिषद यह नहीं जानती कि वह कहाँ है? किस दिशा में बह रही है? और शीघ्र ही किस चट्टान से टकराने वाली है। तुम इस पर क्या कहते हो?"

इसी तरह धीरे-धीरे बढ़ती गई। यहाँ तक कि—सूर्यमणि उठ खड़ा हुआ। क्रोध से उसका मुँह आरक्त हो रहा था। उसने ऊँचे स्वर में कहा—"कुमारगुप्त, तुम वैशाली की परिषद् का अपमान करने का साहस करते हो और वह भी वैशाली में ! तुम अवश्य ही अजातशत्रु के प्रेरित हो। मैं तुम्हें प्रजातंत्र का बंदी समझता हूँ।"

कुमारगुप्त भी उठ खड़ा हुआ। उसने कहा—"मित्र, यह तुम ठीक कहते हो ! परन्तु क्या तुम अकेले ही कुमारगुप्त को बंदी करोगे ?"

सहसा वह उत्तेजित हो गया।

उसने बल देकर कहा—"कुमारगुप्त वैशाली का नागरिक सच-मुच नहीं है, परन्तु वह बंदी नहीं होगा। वह स्वयम् वैशाली भले ही छोड़ दे। क्या तुम खड्ग लोगे ?"

वह कक्ष में गया और अपने साथ दो खड्ग लाया। एक खड्ग

सूर्यमणि की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा— 'क्या वैशाली का राज-पुरुष इस खड्ग की धार देखेगा ?''

सूर्यमणि ने चुपचाप खड्ग ले लिया। वह दृढ़ता से कुमार-गुप्त की ओर देखने लगा। क्या सचमुच ही वह उससे लड़ना चाहता था ?

क्या कुमारगुप्त व्यंग कर रहा था ?

"या किसी भी दिन ?" कुमारगुप्त उसे सीधे आँखों में ताकते हुए कहा—"किसी भी दिन कहीं पर !" उसका स्वर बदल कर गंभीर कठोर हो गया, "तुमने मेरा अपमान किया है। यदि तुम्हें वैशाली पर गर्व है तो मैं राजगृह के नागरिक के नाते तुम्हें युद्ध के लिये आमंत्रित करता हूँ। कहीं भी, किसी समय पर !"

कि अम्बपाली ने प्रवेश किया। उसने उसकी ओर देख कर कहा—"यह क्या ? क्या आप लोग झगड़ पड़े ?"

कुमारगुप्त बैठ गया। उसने उसकी ओर देख कर मुस्करा दिया।

अम्बपाली ने सूर्यमणि को देखा। वह लाल पड़ रहा था। उसने अपने खड्ग को पास के आधार पर रक्खा।

उसने कहा—"कुमारगुप्त ने मुझे द्वन्द के लिए निमंत्रित किया है।"

उसका स्वर फीका था।

अम्बपाली ने कुमारगुप्त की ओर देखा कि उसने व्यंग तो नहीं किया था। तीनों चुप हो गये।

अम्बपाली और सूर्यमणि दोनों बैठ चुके थे।

अम्बपाली ने कहा—"मैं अन्तरायण गई थी। स्वर्णभूमि और बावेरु से कुछ व्यापारी आये हैं। प्रासाद-सज्जा के लिये मैं कई वस्तुएँ पसन्द कर आई हूँ। कुमारगुप्त, तुम चलोगे न ?"

कुमारगुप्त ने गंभीर होकर कहा—"वैशाली के अन्तरायण में अब राजगृह का नागरिक नहीं जायगा। तुम सूर्यमणि को ले जा सकते हो !"

अम्बपाली ने सूर्यमणि की ओर देखा। उसका मुँह बच्चों की तरह भोला हो रहा था। उसे दया हो आई।

उसने कहा—"तुम लोगों में किस विषय को लेकर विवाद हुआ था ? क्या तुम मेल नहीं रख सकते ?"

वह मुस्कराई।

इस मुस्कराहट ने कुमारगुप्त पर चोट की।

इस मुस्कराहट ने सूर्यमणि पर चोट की।

कुमारगुप्त ने कहा—"पुरुष का विषय एक ही है—स्त्री, युवती। वह सोने का पत्तर चढ़ी हुई विष की बेल है।"

उसने मुस्करा दिया।

सूर्यमणि ने कहा—"मैं वैशाली की परिषद् का अपमान नहीं सह सकता।"

और उसने कुमारगुप्त की ओर देखा जो इस समय कुछ सोच रहा था। उसके पलक बंद थे।

धीरे-धीरे आँखें खोल कर कुमारगुप्त ने कहा—"तुम्हारे सूर्यमणि ने मुझ पर अजातशत्रु के गुप्तचर होने का संदेह किया है, अम्बिका। मुझे शीघ्र ही दूसरा स्थान खोजना है। हो सकता है कि वैशाली का राज-पुरुष अपमान न सह सके !"

वह मुस्कराया।

उसने गंभीर हो कर कहा—"हम एक विचित्र समय में चल रहे हैं, राग और विराग, विलास और साधना, पुरुषार्थ और त्याग —कौन लक्ष्य सत्य है ? कौन इस युग के लिये अधिक ठीक है ? प्रत्येक काल का प्रश्न यही होता है—सबसे अधिक सुख मनुष्य को कैसे मिले ? युग की अपनी परिस्थिति में सुख और शांति कैसे संभव है ? तुम्हारी वैशाली ने वासना को चुना है। राजगृह ने साधना और कष्ट को।" सहसा वह सूर्यमणि की ओर मुड़ा—"क्या तुम्हें मेरा निमंत्रण स्वीकार है ?" अम्बपाली ने उसकी ओर कठोर मुद्रा से देखा, सूर्यमणि के भीत मुख को देखा। उसने उसके कंधे पर

हाथ रख कर कहा—"उस बात को जाने दो, कुमार गुप्त। किसी भी सिद्धान्त को इतना कठोर नहीं बनाना चाहिए कि वह मुड़ ही न सके। जीवन में इतना लोच है कि वह प्रहार और रक्त-पात किए बिना अपनी प्रतिष्ठा रख सकता है।"

"तुमने इन्हें, अम्बपाली, अपनी ओट लिया है। यह शुभ हो!"

कुमारगुप्त के होठों पर कुटिल हँसी थी।

उस दिन वह बराबर उद्विग्न रहा। अम्बपाली किसी भी प्रकार उसे आमोद की ओर आकर्षित नहीं कर सकी।........उसे इस सोने के जाल के बाहर निकलना होगा.........। यह वातावरण उसके लिये असह्य था। अम्बपाली ने संध्या के समय कहा—"मुझे एक जगह निमंत्रण मिला है।"

कुमारगुप्त ने उसकी ओर देखा। वह अन्यमनस्क-सी हो रही थी।...........उसने कहा—"तुम जा सकती हो, तुम्हारे लौटने की प्रतीक्षा करूँगा।" रात कुछ जा चुकी थी। कुमारगुप्त प्रासाद में बैठा-बैठा उकता गया था। वह चिंतित था। वह क्या करे? इस चिंता को दूर करने के लिये यह अम्बपाली के आपान-कक्ष में गया। वहाँ उसने कुछ पान किया। चन्द्रसेना किसी काम से वहाँ आई। कुमारगुप्त को देख कर उसने अभिवादन किया और लौट रही थी। इतने में न जाने क्या विचार कर कुमारगुप्त ने पुकारा—"चन्द्रसेना!"

चन्द्रसेना रुक गई।

"क्या तुम्हारी स्वामिनी अभी लौटी नहीं?"

चन्द्रसेना ने कहा—"देवी अम्बपाली देर से आने को कह गई हैं। क्या आप पान करेंगे?"

कुमारगुप्त क्षण भर चुप रहा। फिर उसने कहा—"हाँ चन्द्रसेना, आज मैं थक रहा हूँ।"

चन्द्रसेना ने उसे पात्र भर कर दिया। कुमारगुप्त उसे ध्यान से देखता हुआ पी रहा था। उस क्षीण आलोक में चन्द्रसेना के पीले-

से रंग में बड़ा आकर्षण था। उसके मन में उन पिछले दिनों जो चन्द्रसेना भूल रही थी, आज वह सहसा जाग उठी।

सहसा उसने उससे कहा—"पान करो, चन्द्रसेना। तुम मद नहीं पीतीं। क्यों ?"

चन्द्रसेना मुस्कराई।

कुमारगुप्त ने अपना पात्र उसके मुँह से लगा दिया।

उसने कहा—"सब अनिश्चित है, चन्द्रसेना! मनुष्य का मन नहीं जानता कि वह क्या चाहता है। वह एक मरीचिका में भूल कर प्रसन्न होता है। आमोद करो, पान करो, चन्द्रसेना!"

चन्द्रसेना ने उसकी ओर भीत नेत्रों से देखा। उसने विरोध नहीं किया। पात्र उसके मुँह पर पहुँच गया और उसने कुमारगुप्त के हाथ से मदिरा पी।

इतने में अम्बपाली ने प्रवेश किया।

वह चन्द्रसेना के पीछे आ खड़ी हुई।

उसने एक अट्टहास किया।........

"क्या मेरा स्थान चन्द्रसेना ने लिया, कुमारगुप्त ?"—उसने व्यंग किया—"आज मुझे तुम्हारा मनोरंजन नहीं करने को मिला।" वह मुस्कराई।

चन्द्रसेना और कुमारगुप्त चुप थे। फिर वह वस्त्र बदलने चली गई।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

बाहर उद्यान में देर से कोयल बोल रही थी। कुहू, कुहू, कुहू। अम्बपाली के कक्ष की एक खिड़की उसमें खुलती थी और वह जाग कर देर से उसे सुनती थी।

उसे चन्द्रसेना पर क्रोध था। यह लड़की क्यों उसके और कुमारगुप्त के बीच में आने लगी ? यही कुमारगुप्त विरति और साधना की ओर झुक रहा था!.........वह मंद मुस्कराई।

तभी चंद्रसेना ने आ कर कहा—"बाहर प्रकोष्ठ में महानगर-रक्षक हैं।"

अम्बपाली को आश्चर्य हुआ। जब वह बाहर के कक्ष में पहुँची तो उसने उनका अभिवादन किया। महारक्षक ने कहा—"देवि, परिषद के राजपुरुष राजगृह के नागरिकों पर संदेह करते हैं। वह ऐसी व्यवस्था कर रहे हैं कि वह फिर राजगृह चले जायें।

अम्बपाली गंभीर पड़ गई। उसने कहा—"क्या आप आर्य कुमार गुप्त की बात कहते हैं?" वह मुस्कराई। उसने कहा—"महारक्षक, वैशाली की परिषद से कहना, अम्बपाली भी कुमारगुप्त के साथ वैशाली छोड़ रही है!"

वह स्तब्ध रह गया। निरुत्तर। अम्बपाली ने फिर दृढ़ता से कहा—"वैशाली अम्बपाली का मूल्य नहीं समझती। क्या तुम उससे नगर छोड़ने को कहते हो?"

सहसा महारक्षक ने कहा, "देवि, आर्य कुमारगुप्त ने वैशाली के एक नागरिक पर प्रहार किया है। क्या आप प्रजा की रक्षा का विचार नहीं करतीं?" अम्बपाली उत्तेजित हो गई। उसने कहा—"ठीक है! तुम्हारे वैशाली के नागरिक मेरे प्रासाद में घुस कर विद्रोह और विप्लव मचाएँ, मेरी बहुमूल्य वस्तुएँ नष्ट करें! क्या अकाल-पीड़ित लोगों के व्यवहार के लिये अम्बपाली उत्तरदायी है? अम्बपाली का जन्म वैशाली में नहीं हुआ परन्तु उसने वैशाली को मातृ-भूमि बना लिया है। अब वह वैशाली की नागरिक हो चुकी है? क्या तुम समझते हो कि तुम वैशाली के एक नागरिक को निर्वासित होने को कहते हो। क्या यह प्रजातंत्र के सिद्धांतों के अनुकूल है?"

महारक्षक सोच में पड़ गया।

उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

अम्बपाली भी सोचने लगी।

फिर उसने कहा—"हम वैशाली छोड़ देंगे। तुम राजपुरुषों से मेरा संदेश कह सकते हो।"

और वह मुड़ कर अन्तःकक्ष में हो गई।

वहाँ समर्थ के बनाए अपने उस चित्र के सामने बैठ कर उसने सोचा—"क्या यह संभव है? क्या वैशाली के युवक उसको छोड़ सकेंगे? यह राजपुरुषों की धृष्टता-मात्र है? निश्चय ही इसमें सूर्यमणि का हाथ है। उससे ही कुमारगुप्त ने द्वन्द्व का निश्चय किया था। उसे सूर्यमणि से घृणा हो गई।

तब वह कुमारगुप्त के शयन-कक्ष में गई। वह वहाँ नहीं था। शायद वह उद्यान में चला गया हो? वह उसे ढूँढ़ती हुई वहाँ भी गई। कुमारगुप्त उद्यान में भी नहीं था। फिर वह कहाँ होगा?

सहसा अम्बपाली पर एक सत्य प्रगट हो गया। वह स्तब्ध रह गई! क्या वह उसे छोड़ कर चला गया? क्या यह संभव है? हाय नारी की प्रेम-लिप्सा! उसने प्रासाद भर में उसे खोज डाला। वह कहीं नहीं था। निश्चय ही कुमारगुप्त ने अम्बपाली का प्रासाद छोड़ दिया था। कब? जब वह उसे विरति और वासना में फँसा समझ कर क्रोध, परन्तु साथ ही व्यंग, से विचलित हो रहा थी।

मनुष्य के हृदय को किसने, कब समझा है? उसकी चेष्टाओं और उसके प्रतिदिन के व्यवहारों के नीचे जो एक अंतःसलिला बहती है उसकी लहरें क्षण-क्षण पर नए कौतुक दिखाती हैं। ऊपर धरातल पर उनका कोई भी चिन्ह नहीं होगा, भीतर की बात भगवान जाने!

तो क्या वह नगर में उसको खोज करे? निश्चय ही वह राजगृह की ओर गया होगा? क्या वह उधर आदमी दौड़ाए? "नहीं" .... उसने गंभीरता से सोचा .... "सब व्यर्थ है .... वह कुछ भी नहीं करेगी।"

धीरे-धीरे उसने वैशाली के आमोद-प्रमोद में भाग लेना छोड़ दिया। वह एक प्रकार से एकान्त में रहने लगी। कभी सूर्यमणि उसके पास आ जाता, कभी हेमांक, परन्तु वह स्वयम् बाहर नहीं जाती। उसने धर्म-पुस्तकों का अध्ययन प्रारम्भ किया। इससे दिन कट जाता और उसे थोड़ी शांति मिलती। कुमारगुप्त के इस प्रकार

लोप हो जाने से उसकी आत्मा में (या हृदय में कहिए) एक महान् शून्य छोड़ दिया था। वह उसका स्थान शुष्क ज्ञान और तर्क से खरीदे हुए संतोष से भरना चाहती, परन्तु यह असम्भव था। कभी-कभी वह बड़ी व्याकुल हो उठती। प्रासाद, एश्वर्य और स्वयम् उसका व्यक्तित्व उसे काटने लगता। उसकी प्रवृत्ति धीरे-धीरे विराग की ओर जाने लगी।

वैशाली में अब अधिक शांति थी। वर्षा हुई, जनता को अन्न मिला; और नगर-भंडार फिर एक बार अन्न से पूर्ण हो गया।

एक दिन अम्बपाली को आचार्य प्रबुद्धकेतु का पत्र मिला। उसमें उन्होंने कुमारगुप्त की बुद्ध के धर्म में दीक्षा की बात लिखी थी। "अम्बपाली,"—पत्र में था।—"मेरी गणना के अनुसार तुम प्रधान थेरी होगी। इस महान् धर्म-परिवर्त्तन में तुम्हारा कार्य अपूर्व होगा। फिर वासना में विराग की ओर संक्रमण मानव-जीवन का सब से बड़ा सत्य है। जिन्होंने समझा है, वह इसे जानते हैं। जब समय आया तो कुमारगुप्त ने इसे समझ लिया। तुम्हारे लिये भी समय आने वाला है।"

अम्बपाली ने निश्चय किया, वह इस बूढ़े भिक्षु की गणना को असत्य करेगी। वह उससे मिलेगी नहीं, न वह कुमारगुप्त से ही भेंट करेगी।

दिन बीते, रातें बीतीं, पखवाड़े और मास। वैशाली बुद्ध के तीन प्रचार-सूत्रों से गूँज रही थी। बुद्धं शरणं गच्छामि! धर्मं शरणं गच्छामि! संघ शरणं गच्छामि! अम्बपाली को ऐसा लगा कि यह धार्मिक वातावरण उसे ही घेर कर एक बड़े झंझावात के रूप में उमड़ रहा है। वह अधिक बल से उसका विरोध करने लगी। परन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, उसके हृदय में कुमारगुप्त से मिलने की चाह बढ़ती गई और तर्क ने उसे धीरे-धीरे उस विरोध में कम तीव्र बना दिया।

एक दिन उसने निश्चय किया—वह कुमारगुप्त से भेंट करेगी। वह सूर्यमणि को अपने साथ ले जायगी।

उसने सूर्यमणि से कहा—"तुम्हें एक बार वैशाली के संघाराम में चलना होगा। मुझे आचार्य प्रबुद्धकेतु से मिलना है।"

सूर्यमणि ने आश्चर्य से उसे देखा।

अम्बपाली मुस्कराई! उसने कहा—"इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मुझे आचार्य से एक विषय में परामर्श लेना है।"

जब अम्बपाली का रथ संघाराम के द्वार पर पहुँचा तो उसे पता लगा कि आचार्य नगर गए हैं और उसे दुपहर तक उनकी प्रतीक्षा करनी होगी। वह सूर्यमणि के साथ भीतर गई। सहारे के लिये वह सूर्यमणि की बाहुओं पर झुकी हुई थी।

संघ के प्रधान भवन के द्वार पर कुमारगुप्त भिक्षु वेष में खड़ा हुआ मुस्करा रहा था। सूर्यमणि को इस परिवर्त्तन का कुछ भी ज्ञान न था। उसके हृदय को धक्का लगा। अम्बपाली संघ में क्यों आई है, यह उसने अपने ढंग पर जान लिया। अम्बपाली ने क्षण भर आँखें भर कर कुमारगुप्त को देखा। वह नये वेष में कैसा सुन्दर लग रहा था। फिर कुछ कुटिल मुस्कराहट से वह सूर्यमणि पर और अधिक झुक गई।

कुमारगुप्त ने कहा—"आचार्य भवन में नहीं हैं। मैं देवी अम्बपाली का संघ में स्वागत करता हूँ।"

अम्बपाली ने मुस्करा कर कहा—"अम्बपाली संघ में दीक्षित होने नहीं जा रही है।"

"परन्तु लक्षण शुभ है"—कुमारगुप्त ने व्यंग किया। अम्बपाली बोली नहीं। वह ध्यान से कुमारगुप्त के मुँह को देख रही थी। कुमारगुप्त और सूर्यमणि भी चुप थे।

इस मौन को कुमारगुप्त ने तोड़ा। उसने कहा—"मेरे जीवन में यह एक महान् अवसर आया है, अम्बपाली! मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ मुझे इस आश्रम से शांति मिली है।"

अम्बपाली ने बात काटते हुए कहा—"शांति भ्रष्ट कल्पना है ब्रह्मांड में आवर्तन-विवर्तन, उदय-अस्त, नाश और संघर्ष चलते रहते हैं। पिंड बनता है, पिंड बिगड़ता है! यह सृष्टि एक घोर संघर्ष-पूर्ण वातावरण में चक्कर लगा रही है। मैं भयंकर उत्पात देखती हूँ!"

उसने सूर्यमणि की ओर देखते हुए कहा—"प्रेम क्या है? संघर्ष! इसमें तीव्र पिपासा रहती है, ज्वाला रहती है। कुमारगुप्त, प्रत्येक लपट में ज्वाला रहती है। परन्तु उसमें ही प्रकाश रहता है। प्रकाश पाने के लिए ज्वाला को भी सहना पड़ता है।"

"परन्तु ज्वाला पकड़ कर बैठे रहने से और उसी को सत्य मान लेने से प्रकाश की ओर आकर्षण कम हो जाता है। जलना ही जीवन नहीं है।"

"जलना ही जीवन है!"—अम्बपाली ने कुछ उत्तेजित होते हुए कहा—"कल मैं तुमसे प्रेम करती थी। आज मैं सूर्यमणि से प्रेम करती हूँ! जीवन जलना चाहता है। शांति का नाम मरण है। मुझे शांति नहीं चाहिए!"

उसने मुस्करा कर सूर्यमणि को देखा।

कुमारगुप्त का उत्साह फीका पड़ गया। उसके हृदय में एक टीस उठी।

उसने कहा—"मुझे हर्ष है कि तुम सूर्यमणि के द्वारा ज्योति प्राप्त कर रही हो।"

"और जीवन।"—अम्बपाली ने गंभीरता से कह कर सूर्यमणि का हाथ दबाया।

तभी आचार्य ने प्रवेश करते हुए कहा—"देवी अम्बपाली को प्रतीक्षा करनी पड़ी!"

सभी ने उठकर उनका अभिवादन किया।

सब बैठ गए।

आचार्य ने कहा—"तुम्हें मेरा पत्र मिला?"

अम्बपाली ने उत्तर दिया—"मैंने उसे पढ़ा है। अभी कुमारगुप्त से मैं उसी विषय में बात कर रही थी। क्या जीवन का ध्येय इसी में है कि संघर्षों और उनकी उत्तेजनाओं से छुटकारा पाया जाय ?

संघर्ष तुम किसे कहती हो ?" आचार्य ने कहा—"क्या विराग-मय जीवन संघर्षों का जोवन नहीं है। 'उत्तिष्ठ, जाग्रत, प्राप्य, वरान्नबोधित'। बुद्ध का धर्म कर्म-शील है। वह किसी को भी आलसी नहीं बनाता। तथागत के जीवन को ही एक बार देखो और तुम्हें उनकी सफलता का रहस्य समझ में आ जायगा। संघर्ष जीवन है। परन्तु संघर्ष क्या है ? क्या आत्मा का संघर्ष, संघर्ष नहीं है ? आत्मा को ऊँचे उठने में क्या तत्त्वों से संघर्ष नहीं करना पड़ता। संघर्ष सत्य अवश्य है परन्तु वह निरन्तर अधिक ऊँचे स्तर में हो। राग और विराग दो इतनी विभिन्न प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। विरागी भी रागी होता है परन्तु उसका अनुराग एक की संकीर्णता से निकल कर विराट की विपुलता में बस जाता है।"

अम्बपाली मौन सुन रही थी।

आचार्य ने फिर कहा—"तुम्हें हमारे इस धर्म-अनुष्ठान में आना है। बुद्ध का संदेश प्रत्येक मुक्तात्मा का संदेश है। अभी लाखों व्यक्ति इसके प्रचार में आत्मोत्सर्ग करेंगे। तुम उनमें महत्त्व-पूर्ण भाग लोगी। मिट्टी और कर्दम से ऊपर उठना, अंकुर का ऊपर, प्रकाश की ओर बढ़ना सत्य है। इससे विपरीत जो कुछ कहा जाय, उसमें तथ्य नहीं है। प्रेम, वासना, भोग, रोग, इच्छायें—ये सब चक्र के निचले भाग हैं। धीरे-धीरे चक्र ऊपर चढ़ता है, ऊपर चढ़ता है और वे प्रकाश में आकर ज्योति के स्पर्श से पुण्य-भावनाओं में परिवर्तित होते जाते हैं। सत्य को कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। एक ओर देखने से वह काला लगेगा, क्योंकि उस पर अन्धकार के स्तर से देखा गया है। दूसरी ओर देखने पर वह स्वतःप्रकाशित, क्योंकि उसे ज्योति के भीतर से देखा गया है। तुम

अंधकार में से बुद्ध के धर्म के प्रकाश की ओर बढ़ रही हो, अम्बपाली।"

बीसवाँ परिच्छेद

बुड्ढे ने सुना था कि उसकी पुत्री और शिलाजी बौद्ध हो गये। उसे बहुत क्रोध आया। उसने कहा—"यह छोकरे-छोकरियाँ गेरुए कपड़े पहन कर इधर-उधर घूमते हैं। वह ज्ञान का उपदेश देते फिरते हैं। न, न ......हमारे समय में ऐसा नहीं था!"

उसने जमदग्गी से यह बात नहीं कही।

लड़की उसकी अपनी नहीं थी। न लड़का ही। उसकी पत्नी का कब देहांत हुआ, यह मग्गशिरा को याद हा नहीं था। उसके बाद वह दस्यु बना, सैनिक बना और कम्मार। अब आपान की दुकान रक्खे था। जब वह कम्मार था, तब उसका एक मित्र अपनी एक कन्या और एक पुत्र छोड़ कर मर गया और उसने बड़े कष्ट से उन्हें पाला। वैशाली वैभव और विलास की ओर अधिक-अधिक झुकती जाती थी और इसलिए आपान की दुकान में लाभ अधिक था। इसलिए इस प्रौढ़ अवस्था में उसने यह दुकान खोली थी। वह स्वयम् मदिरा पान नहीं करता था, यह नहीं कि उसने कभी पी ही न हो।

सुभागा को जब उसने दास-दासियों के व्यापारियों के हाथ बेंच दिया तो उसे बड़ा दुख हुआ। उस दिन वह सुभागा की आवाज़ पर जग जाता तो उसका संघर्ष शीघ्र ही समाप्त हो जाता। सुभागा किसी प्रकार भाग आई थी। परन्तु वह जागा नहीं और अपने को दोषी समझता रहा। फिर कदाचित् सुभागा ने भी उससे भेंट करने की बात नहीं सोची।

एक दिन वह प्रतिदिन की तरह मदिरा बेच रहा था कि बात छिड़ने पर एक प्रौढ़, पुराने मद्यपी ने कहा—"मग्गशिरा, अरे, तेरी

वह लड़की जोगनी बनी घूम रही थी। सुना!" बूढ़े ने आपान का पात्र हाथ से रख दिया। उसका हाथ काँपने लगा था। तो वह भाग आई.........धन्य! उसने संतोष की एक साँस ली। एक पाप का बोझ उसके ऊपर से उतर गया।

प्रौढ़ मुस्कराया। उसने कहा—"ये लड़की-लड़के बड़े चतुर हैं। ये इन भिक्खुओं का सत्यानाश कर देंगे। ये छिप-छिप कर प्रेम करते हैं और फिर भाग कर भिक्खु-भिक्खुनी बन जाते हैं।" उसने अपनी आवाज़ तेज़ की। "उसके साथ वह मालाकार भी था।—शिलाजी·· ···लड़का।"

"क्या वह भी·········" बुड्ढे ने आश्चर्य से कहा।

"हाँ, दोनों नगर में भीख माँगते थे। दोनों अलग-अलग थे, परन्तु थे वे ही दोनों।"

उस दिन आपान बंद करके बूढ़े ने सोचा—"यह बात मैं इस लौंडे से नहीं कहूँगा। फिर यह भी भाग गया तो!" उसने एक बार संघाराम जाने की बात सोची। परन्तु वह किस मुँह से सुभागो के सामने जायगा।

कई सप्ताह बीत गये।

एक दिन वह हुआ जिसका उसे डर था। वह जमदग्गी को घर से निकलने नहीं देता था। उसे दुकान पर बिठा रखता था। उसे भय था कि नगर में उसे उसकी बहन मिलेगी और वह फिर लौटेगा नहीं।

वह दुकान में लिए पान तैयार करने में लगा हुआ था। अपने काम में वह जमदग्गी को बिलकुल भूल गया और वह भाग निकला। कई दिन से वह बाहर नहीं गया था। बहन का दुख एक तरह से वह भूल गया था। परन्तु बुड्ढे की क़ैद उसे अखर रही थी। उसने इस नियंत्रण का कुछ भी अर्थ नहीं समझ पड़ रहा था। परन्तु जब बुड्ढा कहता—"लौटेगी, तेरी बहन लौटेगी", तो वह कहता—"झूठ बाबा, तुमने उसे बेंच दिया है। तुमने बहन को बेंचा है।"

बुड्ढा उसकी ओर घूसा-डंडा दिखा कर उसे धमकाना चाहता परन्तु ढीठ बालक कहे जाता—"तुम झूठे हो, बाबा !"

तब वह शांत हो जाता। वह कहता—"यह जाने क्या ? यह निरा गधा है !"

और वह उसकी ओर देख कर मुस्कराता।

बालक और जोर से कहता—"तुमने उसे बेंच दिया है। परन्तु जब इस प्रकार का कोई प्रसंग नहीं उठता तो उसे बहन की याद नहीं आती।"

उस दिन वह बड़ी देर में आया। बूढ़ा उसकी प्रतीक्षा करते-करते थक गया था। आते ही उसने उसे मार दी। परन्तु उसे आश्चर्य हुआ। जब उसने देखा कि वह अब भी प्रसन्न है, उसने कहा— "बदमाश, और हँस !" और उसने एक चपत उसके मुँह पर लगाया।

जमदग्गी ने चिल्ला कर कहा—"तुमने उसे बेच दिया था। वह भाग आई है। आज वह मुझे मिली थी !"

बुड्ढा उसकी ओर दौड़ा। बालक भाग गया। वह भागता चला गया—देर तक दौड़ कर बुड्ढा लौट आया।

"मरने दो दोनों को !"—उसने क्रोध से कहा—"मैं अकेला ही मरूँगा। मरने दो उन्हें !"

और वह उदास पड़ रहा।

फिर उसने दुकान नहीं खोली।

लड़का नहीं लौटा।

शायद वह बहन के पास चला गया था। उसके पुराने गाहक आकर पुकारते—"मग्गशिरा, ओ मग्गशिरा !" मग्गशिरा द्वार खोलता। उसे जैसे संसार से कोई लगाव ही नहीं रहा हो। वह कहता—"क्या चाहते हो ? आपान बंद है·········तुम्हें दूसरी जगह जाना चाहिए।"

और वह जाने लगता।

"क्यों ? आपान क्यों बंद है ?" मग्गशिरा कहता—"यह म ठीक कहते हो। मेरी जैसी लाग किसी की भी नहीं होती। उसमें इतना स्वाद होता है, तभी तो। तुम तो मेरे ही यहाँ पीते थे। भीड़ लगी रहती थी।"

और फिर कुछ ही क्षणों बाद उसका उत्साह मंद हो जाता।

"मैं अब सुखी मरूँगा।" उसकी आँखों से करुणा बरसती। "मैं उन लौंडे-लौंडियों का मुँह न देखूँगा। मैंने उन्हें पाला, मैंने उन्हें बड़ा किया और वे निकल गये। तो जाएँ। मग्गशिरा प्रसन्न है!"

धीरे-धीरे उसके ये प्रसन्नता और विषाद के क्षण समाप्त हो गये और उनके स्थान पर एक गहरी उदासीनता आ गई। चिन्ता से उसका शरीर घुलने लगा। वह क्या सोचता था ? कुछ दिनों के बाद उसने देखा—वह बीमार हो गया है; उसका बैठना-उठना कठिन है और घर में कोई नहीं है। यदि उसे अन्तिम यात्रा के लिए तैयार होना है तो उसे किसी की सहायता नहीं है।

"बदमाश छोकरे!" उसने कहा —"तू भाग गया। अपनी बहन के साथ मर!"

इक्कासवाँ परिच्छेद

हेमांक के प्रयोग चल रहे थे। वह कहता कि वह उनमें सफल हो रहा है। कुमारगुप्त के अम्बपाली के जीवन से हट जाने के बाद उसने अपना एकान्त तोड़ा। वह बहुधा अम्बपाली के यहाँ आता और उससे अपने प्रयोगों के विषय में बातें करता। अम्बपाली कुमारगुप्त के चले जाने से उदास अवश्य हो रही थी परन्तु धीरे-धीरे उसने अपने को बदले हुए वातावरण के अनुकूल बना लिया।

एक दिन हेमांक ने कहा—"देवि अम्बपाली, मैं तुम्हें अपने प्रयोग दिखाना चाहता हूँ।"

"क्यों ?", अम्बपाली ने आश्चर्यजनक जिज्ञासा की "क्या तुमने कोई विशेष सफलता प्राप्त की है ?"

"आप देखिएगा !" वह मुस्कराया "क्या उसके लिए विशेष कहीं जाना होगा ?" अम्बपाली ने उदासीनता से पूछा, "मैं तो बहुत दिनों से बाहर नहीं गई।"

हेमांक हँस पड़ा। उसने कहा—"बता देने से विचित्रता समाप्त हो जायगी। आप को कष्ट करना होगा।"

अमर यौवन और सौन्दर्य का अन्वेषक रासायनिक !

अम्बपाली खिल पड़ी।

उसने कहा—'क्या तुम मुझे ही प्रयोग की वस्तु बनाओगे ? बात क्या है ? मुझे तुम्हारी इन खोजों में अधिक श्रद्धा नहीं है।"

हेमांक लजा गया।

उसने कहा—"एक दिन आपको भी प्रयोग बनना पड़ेगा। परन्तु कल नहीं। वैशाली अम्बपाली को सदा अपने परिचित रूप में देखना पसंद करेगी·········।"

उसने ध्यान से अम्बपाली को देखा।

उसके मुख पर हलकी, विषाद की कालिमा दौड़ गई। उसने कहा—"हेमांक, फल की पूर्णता पक कर गिर जाने में है। मनुष्य के लिए जो सत्य है, उससे आँखें मोड़ना या उसके लिए दुखी होना, यह दोनों सदा ठीक नहीं। मैं धीरे-धीरे वैशाली से दूर होती जा रही हूँ। क्या तुम इसे नहीं देखते ?"

"जब वैशाली आप को दूर होने दे !"

हेमांक ने मुस्करा कर उसकी ओर देखा।

जब वह वैशाली की सर्व-श्रेष्ठ सुन्दरी को अपने साथ रथ पर बैठा कर अपने निवास को लिए जा रहा था, उसका हृदय उल्लास से भरा हुआ था।

अम्बपाली ने देखा—वैशाली में बौद्ध मत का प्रचार हो रहा है। परन्तु अब भी वैशाली के युवक उस पर मुग्ध थे। उसके राजमार्ग

पर आते ही सब की आँखें उसकी ओर लग गईं। उसके ऊपर पुष्प-मालाएं फेंकी गईं। जनता ने उसका अभिवादन किया।

हेमांक ने उसे अपनी प्रयोगशाला दिखाई। नगर के एक कोने में एक उद्यान और उससे सटा हुआ ईंटों का बना हुआ एक सादा, परन्तु विशाल, घर ले कर वह रख रहा था। सारा घर बड़े-बड़े मटकों, भपकों, अम्लों, क्षारों और भाँति-भाँति के रासायनिक यंत्रों से भरा पड़ा था। एक भपका आग पर चढ़ा था और उसमें से एक विचित्र प्रकार की दुर्गन्ध निकल रही थी।

उसने पूछा—"इसमें क्या ?"

"इसमें एक विशेष प्रकार का मद बन रहा है। उसके पीने से जीवन के नाशकारी तत्त्व धीरे-धीरे दूर हो जायँगे और उल्लास और स्फूर्ति मिलेंगे।"

एक दूसरी ओर एक बड़े-से पात्र में कोई वस्तु तेज आँच पर गरम हो रही थी।

अम्बपाली ने कहा—"यह तुम्हारे विचित्र प्रकार के यंत्र एक दिन वैशाली को अमर सौन्दर्य का बरदान देंगे। क्यों ?"

हेमांक ने गंभीरता से कहा—"परन्तु यदि उस समय तक वैशाली की सारी युवतियाँ भिक्षुणियाँ हो गईं तो हेमांक के उस अविष्कार का क्या होगा ?"

अम्बपाली अट्टहास कर उठी। उसने कहा—"ठीक है, हेमांक, तुम्हारी यह चिन्ता ठीक है।"

फिर उसने गंभीर होकर कहा—"हाँ, अभी आधी नगरी बौद्ध हुई है। यदि तुमने प्रयोगों में शीघ्र ही सफलता नहीं प्राप्त की, तो इस गति से सारी वैशाली को बुद्ध की शरण में जाते देर नहीं लगेगी। भिक्षुणियाँ अमर यौवन की भिक्षा नहीं चाहेंगी।"

उसने हेमांक को देखा।

वह अपने यंत्र ठीक कर रहा था।

थोड़ी देर के बाद उसने कहा—"देवि अम्बपाली, जीवन इतना विचित्र है कि उसकी प्रधान नाड़ी पर हाथ धरना नितान्त असम्भव है। यदि ठीक-ठीक खोज करके जीवन-तत्त्व को जान लिया तो फिर उसका ह्रास रोक कर मरण का निवारण किया जा सकता है।"

"प्रत्येक संभव वस्तु उपयोगी नहीं होती। मनुष्य और लोक के जीवन के लिए बहुत से रहस्यों का आवृत रहना ही अच्छा है"—अम्बपाली मुस्कराई।

"मैं यह बात नहीं मानता।"

हेमांक की बात पर अम्बपाली ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह सोच रही थी। क्या?

प्रयोग तैयार हो गया। एक बड़े प्याले में हेमांक ने पानी लिया। उसमें उसने एक मुरझा हुआ फूल डाल दिया।

उसने अम्बपाली की ओर झुक कर कहा—"अब इसमें सौन्दर्य नहीं रहा। इसके प्रेमी भ्रमर इसे छोड़ चुके हैं। यह फूल युवा रहने पर कितना सुन्दर रहा होगा! क्या देखना चाहती हैं, देवि?"

उसने एक विचित्र बनावट की बोतल से किसी दुर्गन्धयुत द्रव की कुछ बूँदे पानी में डाली और धीरे-धीरे फूल का रंग बदलने लगा। अम्बपाली ने आश्चर्य से देखा—वह फिर अपने पूर्ण-यौवन में खिल उठा था।

अम्बपाली उसे ध्यान से देख रही थी। हेमांक कह रहा था—'जीवन के ह्रास को रोक कर सौन्दर्य को चिर बनाया जा सकता है।"

कुछ क्षण के बाद फूल में फिर परिवर्त्तन हुआ। धीरे-धीरे वह अपनी पुरानी अवस्था को लौट आया।

हेमांक ने कहा—"बस। हेमांक इतने ही क्षणों के लिए सफल हुआ है। परन्तु यह एक विचित्र अनुभव है। इस फूल के साथ जो हुआ है यह प्राणीमात्र के साथ—कुछ कठिनता से हो सकता है। कठिनता से इसलिए कि प्राणीमात्र इच्छा रखते हैं।"

सहसा अम्बपाली ने उसकी ओर मुड़कर कहा—"हेमांक, मैंने तुम्हारा प्रयोग देखा। पता नहीं, तुम्हारा यह प्रयोग पूर्णरूप से कब तक सफल हो। फिर भी यह मानवता के लिए अभिशाप ही रहेगा। छोड़ दो, हेमांक, इस मिथ्या को अचिर ही रहने दो। इसे नष्ट होकर पूर्णता प्राप्त कर लेने दो। देह और यह सौन्दर्य रति के बाद विरति और पूर्णत्याग के इसी विकास-मार्ग का मुँह जोहते हैं......क्या तुमने प्रेम किया है?"

हेमांक ने अट्टहास किया। उसकी मुद्रा में निश्चय आ गया।

"कहूँ कि हाँ" उसने कहा—"क्या यह प्रेम ही अमर सौन्दर्य और अविनश्वर जीवन देने वाला पारस नहीं है, क्या त्याग और विरति में कोई सौन्दर्य नहीं? वैशाली की गणिका न अमर जीवन चाहती है, न सौन्दर्य।" अम्बपाली ने कहा।

वह उत्तेजित थी।

हेमांक की हँसी फीकी थी।

उसने आगे बढ़ कर अम्बपाली का हाथ चूम लिया। वह काँप गई।

उसने कहा—"देवि अम्बपाली, तुम हेमांक की हृदय की ज्वाला की देवी हो। वह इस प्रयोग की सफलता को तुम्हारे चरणों में रख सके!"

अम्बपाली चुप थी।

हेमांक कह रहा था—"तुमने मेरे जीवन में एक बवंडर उठा दिया है। मैं एक जलते हुए ज्वालामुखी के ऊपर खड़ा हूँ। क्या तुम सुनती हो?"

अम्बपाली अन्यमनस्क हो गई थी। वह उसके प्रश्न पर चौंकी।

उसने गंभीर हो कर कहा—"क्या प्रत्येक के प्रेम के अभिशाप में जलना ही अम्बपाली के सौन्दर्य की सार्थकता है? क्या उसके लिए कल्याण का कोई मार्ग नहीं है? क्या वह पुरुषों की दृष्टि से

उकता नहीं जायगी ? हेमांक, तुम पागल हो। कुमारगुप्त ने तुम्हारे सम्बन्ध में जो बात वर्षों पहले कही थी, वह ग़लत नहीं थी।"

फिर उसने धीरे-धीरे कहा—"तुम पुरुष सब एक से हो—लम्पट ! हेमांक, मैं पुरुषों से घृणा करती हूँ।"

अब हेमांक को अपनी दुर्बलता का ज्ञान हुआ। उसने कहा—"न, न, मैं झूठ कहता था, मैं तुम्हें घृणा करता हूँ।"

वह पीला पड़ गया।

अम्बपाली ने अट्टहास किया। अब वह कुछ स्वस्थ हो गई थी।

उसने कहा—"मैं तुमसे घृणा करती हूँ। तुम पहले पुरुष थे जिसने मुझसे घृणा दिखाई थी। मैं तुम्हें अनजाने ही प्रेम करने लगी थी। तुम्हारी ओर तुम्हारी घृणा ने मुझे आकर्षित किया। परन्तु अब जादू टूट गया है। अब तुम मुझे प्रेम करते हो। तुम छिपा नहीं सकते। तुम साधारण पुरुषों से कहीं भी ऊँचे नहीं, कुछ भी भिन्न नहीं। अम्बपाली तुमसे घृणा करती है !"

दोनों मौन रहे।

जब हेमांक अम्बपाली को उसके प्रासाद पर लौटा रहा था, तब तक वह भी स्वस्थ हो गया था। उसने घोड़ों को धीरे-धीरे राज-पथ पर बढ़ाते हुए कहा—"तुमने ठीक कहा था, देवि ! सब पुरुष एक-से होते हैं। मैं भी तुम्हारी ओर आकर्षित हुआ और मैंने अधिक-से-अधिक विचित्र बन कर तुम्हें अपनी ओर आकर्षित करना चाहा। तुम नारी हमें उच्छृंखल, पागल और कवि बना देती हो !"

वह उसकी ओर देख कर विचित्र ढंग से मुस्कराया। "मैं अमर सौन्दर्य और जीवन के रसायन में विश्वास करता हूँ। परन्तु इस खोज में मेरा स्वार्थ लगा हुआ था। तुमने मेरी आँख खोल दी है और मेरे जीवन की एक दुर्बलता दूर कर दी। अब मैं निःस्वार्थ भाव से........"

उसने अम्बपाली की ओर देखा। वे प्रासाद के सामने पहुँच गये थे। अम्बपाली उसकी बातों पर ध्यान न दे एक भिक्खु को देख

रही थी जो राजपथ पर जा रहा था। यह कुमारगुप्त था। उसने उसे देख लिया था।

बाइसवाँ परिच्छेद

इसके बाद अम्बपाली के जीवन ने एक नया पथ पकड़ा। वह फिर कुमारगुप्त से नहीं मिली। वह सोचती—न, मैं क्या किसी के जीवन की साध नष्ट कर दूँ। जिस महान चक्र में भाग लेने की बात कुमारगुप्त कहा करता था, उसे सोच कर वह कहती—कदाचित् समय आ गया है। कुमारगुप्त ने उसका संकेत समझ लिया है। क्या कुमारगुप्त का बौद्ध संघ में प्रवेश करना ही उसके मार्ग बदलने का संकेत नहीं है? बहुत सोच विचार कर वह कहती—अभी समय आया नहीं है।

हेमांक उस दिन के बाद से उसे नहीं मिला। एक दिन अम्बपाली बहुत उद्विग्न थी। संध्या होने पर वह पर्यटन के लिये नगर के बाहर गई। जब वह लौट रही थी तो एक रथ उसके रथ के बराबर आकर रुक गया। उस पर हेमांक था।

उसने कहा—"ओहो! तुम मिल गईं! अच्छा हुआ। मैं आज वैशाली छोड़ रहा हूँ।"

"क्यों?" अम्बपाली ने प्रश्न किया—"क्या कोई विशेष कारण है?"

हेमांक मुस्कराया। उसने कहा—"कारण हो भी सकता है!"

दोनों चुप रहे। कई रथ उनके बराबर से निकल गये।

अम्बपाली ने मौन को तोड़ा। उसने कहा—"तो कहाँ जाओगे? चम्पा?"

"वहीं जा रहा हूँ। इसी रसायन में लग जाना है।"

अम्बपाली ने गंभीर हो कर कहा—"तुम सफल हो! परन्तु हेमांक, विवाह करना और घर बसाना। जीवन के रथ के पहिये

बड़ी तेजी से चलते हैं। उसके पहले धुरे बहुत शीघ्र पिछड़ते जाते हैं। तुम मुझे और वैशाली को भूल जाओगे………।"

उसने मुस्करा कर अभिवादन किया।

हेमांक ने वागें हाथ में ले लीं और हाथ अभिवादन के ढंग पर उठाए।

चलते हुए अम्बपाली ने पूछा—"क्या सूर्यमणि से मिल लिए हो ?"

बढ़ते हुए हेमांक ने ऊँचे स्वर में कहा—"मैंने उसे कष्ट देना ठीक नहीं समझा। वह कविता लिख रहा होगा या परिषद् की बात सोचता होगा।"

रथ बढ़ा कर वह आगे बढ़ गया। प्रासाद में पहुँच कर अम्बपाली मुस्कराई। उसने कहा—"मैं दो मित्रों में फूट कराने की दोषी हूँ।"

धीरे-धीरे दिन बीत गये। राजगृह से समाचार आ रहे थे कि अजातशत्रु फिर प्रसेनजित पर आक्रमण कर रहा है। इधर अम्बपाली का जीवन इतना शुष्क और उदासीन हो रहा था कि एक दिन उसने वाराणसी की यात्रा करने का विचार कर लिया। वह कुमारगुप्त से जितना दूर सम्भव हो सके, उतना दूर रहना चाहती थी।

उसने चन्द्रसेना को बुला कर कहा—"देखो, मैं विजय के साथ काशी जा रही हूँ।"

चन्द्रसेना ने आश्चर्य से उसे देखा। अम्बपाली ने कहा—"यह भवन तुम्हारे संरक्षण में रहेगा। तुम सूर्यमणि से सहायता ले सकती हो।"

वह मुस्कराई।

"मैं यहाँ से कोई वस्तु नहीं ले जाऊँगी। मेरे साथ कुछ बहुमूल्य हीरे रहेंगे और कुछ धन रहेगा। उससे मैं वहाँ भली भाँति रह सकूँगी।"

चन्द्रसेना ने पूछा—"देवी कब लौटेंगी ?"

"नहीं कह सकती।" कक्ष के भीतर बढ़ते हुए अम्बपाली ने कहा—"लौटूँगी या नहीं !"

चन्द्रसेना ने और भी अधिक आश्चर्य से उसे मुड़ती हुई देखा। अम्बपाली के मुंह पर थकान और विषाद की छाया थी।

बाराणसी अब पहले-सी नगरी नहीं रह गई थी। यद्यपि वहाँ पर अब भी कर्मकांडी पंडित थे परन्तु बौद्ध-विहारों और संघारामों से नगर भरा था। बुद्ध ने अपना धर्म-चक्र-परिवर्त्तन इसी नगर से प्रारंभ किया था और वर्षों वहीं उनका केन्द्र रहा। इसकी आवश्यकता भी थी। काशी विद्या का केन्द्र भी था। उसी तरह वह यज्ञ-धर्म का केन्द्र भी था। एक बार इस स्थान पर नए मत की स्थापना हो जाने पर फिर उसकी सफलता में संदेह नहीं रह जाता।

अम्बपाली ने गंगा के तट पर एक भवन किराये पर लिया और सीधे-साधे ढंग से वहाँ रहने लगी। वह बहुधा बौद्ध-संघारामों में जाती और स्थविरों के उपदेश सुनती।

उसके जीवन में शांति आई। उसने एक नए उल्लास का अनुभव किया।

परन्तु यह जीवन है। हमारे वर्त्तमान पर अतीत की मौन छाया प्रति पल पड़ती रहती है। हम उसे स्वीकार नहीं करते। जब एक मनुष्य पुराने जीवन से सारा नाता तोड़ कर नए से संबंध स्थापित करने में लगा होता है तो अतीत के ये भूत अंधकार के गर्भ से निकल कर उसके सामने आ जाते हैं। उसकी शांति भंग होने लगती है।

एक भूत अम्बपाली के सामने भी आ खड़ा हुआ। यह समर्थ सत्यकाम के रूप में था।

सत्यकाम भिक्षु हो गया था।

एक दिन अम्बपाली संघाराम के उपदेश सुन रही थी कि उसको

ृष्टि सामने के भिक्षु पर पड़ी। वह एकटक उसे देख रहा था। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

अम्बपाली के विषय में काशी में चरचे होने लगे थे। उसके सौन्दर्य ने वहाँ भी लोगों को आकर्षित किया।

फिर आश्चर्य की बात क्या थी ?

"यह तो समर्थ है"—ध्यान से उसे देखते हुए अम्बपाली अपने आप कह उठी।

उपदेश के बाद वह भिक्षु उसके पास आया।

उसने कहा—"तुम यहाँ आई हो, यह मैंने पहले नहीं जाना था। क्या मैं तुम्हारी कोई सेवा कर सकता हूँ ?"

अम्बपाली ने मुस्कराते हुए कहा—"तुम बिल्कुल बदल गए हो, समर्थ ! तुम्हें पहचानने में मुझे कठिनाई पड़ी। क्या तुम्हें शांति मिली ?"

सत्यकाम मुस्कराया।

उसने कहा—"बुद्ध का धर्म संघर्ष का संदेश देता है। अनवरत आध्यात्मिक संघर्ष का नाम ही शांति है। यदि तुम निर्वाण की कहती हो तो मैंने उसे प्राप्त नहीं किया। मैं साधना कर रहा हूँ।"

अम्बपाली ने कहा—"तुम्हारी साधना सफल हो !"

इसके बाद वह उससे बहुधा भेंट करती और बुद्ध और संघ के विषय में कितनी ही बातें करती। उसे आश्चर्य होता कि वह उतना बदल कैसे गया। एक दिन उसने समर्थ से पूछा भी। उसने हँस कर कहा—"यहाँ खोई हुए वस्तु की चरचा चलाना ठीक नहीं। परन्तु इतना कह दूँ, तथागत के धर्म में कोई गाँठ नहीं। वह सरल जीवन का उपदेश मात्र है। वासना और ऐश्वर्य जीवन की वीणा को बहुत ढीला छोड़ देते हैं; साधना और कृच्छ्र तप उसे बहुत कस देते हैं ! बुद्ध का मध्य-प्रतिपदा ठीक मार्ग है।"

जिस व्यक्ति को अम्बपाली ने ठुकरा दिया था, जिसका प्रेम

उसने स्वीकार नहीं किया था, उसी ने धीरे-धीरे उसे तथागत के धर्म के मूल तत्त्वों से परिचित कराया।

एक दिन समर्थ ने कहा—"अम्बपाली, वासनाएँ नष्ट नहीं होतीं, उन्हें हमें नए और अधिक ऊँचे स्तर पर उठा कर नया रूप देना होता है और तब वह बाधा न रह कर साधन बन जाती हैं।"

इसी तरह बाराणसी में अम्बपाली का जीवन नए सुधार-मार्ग पर चलता रहा, परन्तु फिर एक दिन······।

एक दिन समर्थ ने उससे कहा—"कुमारगुप्त के चोट आई !"

अम्बपाली चकराई !

उसने कहा—"आर्य कुमारगुप्त को क्या हुआ, समर्थ !" समर्थ सत्यकाम ने उसे बताया कि भिक्षु कुमारगुप्त राजगृह पहुँच गया था। वहाँ कोशल की सेना द्वारा अजातशत्रु के पराजित हो जाने पर उसने फिर एक बार खड्ग उठाया और युद्ध में आहत हुआ।

"वह भिक्षु-धर्म से च्युत हुआ है", उसने समाप्त करते हुए कहा। वह कुमारगुप्त और अम्बपाली के प्रेम की बात को जानता था। कुछ परिचय होने के कारण भी वह इस समाचार में तल्लीन हुआ था।

यह समाचार अम्बपाली के लिए दुखद था। उसने कहा—"अब वे कहाँ हैं, समथ !" सत्यकाम ने उसे बताया कि वह राजगृह है। पराजित अजातशत्रु को प्रसेनजित् की कन्या देवपालिता से विवाह करके ही छुट्टी मिली थी। इस प्रकार वर्षों से विरोधी दो राष्ट्र संबंध के सूत्र में बँध गए। वह वृद्ध प्रसेनजित् की राजनीति की विजय थी।

अम्बपाली यह समाचार मिलने के बाद उदास रहने लगी। उसके मन में प्रतिपल यह जिज्ञासा होती—'उन्होंने संघ क्यों छोड़ा? क्यों उन्होंने युद्ध में भाग लिया और अब वे कैसे हैं ?" धीरे-धीरे यह प्रश्न अधिक महत्त्व-पूर्ण होते गए और एक दिन जब वह संघ में

समर्थ सत्यकाम से मिला तो उसने एकदम राजगृह जाने का विचार कर लिया।

राजगृह की सेनाएँ परास्त हो कर लौट रही थीं। उनके मुँह पर श्रांति और पराजय के चिन्ह थे।! परन्तु इसके साथ ही विवाह के बाजे बज रहे थे और राजगृह की जनता नई महारानी का स्वागत कर रही थी।

तेइसवाँ परिच्छेद

राजगृह से कुमारगुप्त के साथ अम्बपाली जब वैशाली लौटी, तब उसने एक निश्चय बना लिया था। अब वह भी संघ में दीक्षित होगी। इन दिनों वह कुमारगुप्त के बहुत समीप आ गई थी। राजगृह पहुँचते ही वह कुमारगुप्त के घर पहुँची और उसका सारा भार उसने ऊपर ले लिया। इस युद्ध में उसके पिता का देहान्त हो चुका था। और उसका भाई किशोरगुप्त उनका स्थानापन्न बना था।

उसकी सेवा-सुश्रुषा से शीघ्र ही कुमारगुप्त इस योग्य हो गया कि वह उसे वैशाली ला सके और जब वह इस योग्य हो गया तो वह उसे वैशाली ले आई।

कुमारगुप्त राजगृह प्रचार के लिए गया था। परन्तु परिस्थिति के चक्र में पड़ कर उसकी क्षत्रिय वृत्ति उत्तेजित हो गई! वह भिक्षु-धर्म को भूल गया। "गौतम का धर्म कायरता का आह्वान नहीं करता!" वह कहने लगा और फिर उसने युद्ध में भाग लिया। वैशाली में पहुँच कर अम्बपाली ने देखा कि उसके चारों ओर के संसार में परिवर्त्तन हो गया। एक परिवर्त्तन की ओर उसका ध्यान विशेष रूप से गया और वह मुस्कराई। वह परिवर्त्तन क्या था? सूर्यमणि ने उसकी आशा छोड़ दी थी। अब वह चन्द्रसेना से प्रेम कर रहा था। उसे अम्बपाली के द्वारा यह मालूम हो चुका था कि चन्द्रसेना के माता-पिता ऊँचे वर्ग के लोग थे और यह साधारण

दासी नहीं थी। और फिर क्या उसका रूप ही उसके अभिजात्य का साक्षी नहीं था ?

मनुष्य जीवित रहना चाहता है, यही नहीं वह यह अनुभव करना चाहता है कि वह जीवित है ! अपने में केन्द्रित रह कर कोई यह अनुभव नहीं कर सकता कि वह जी रहा है। उसे ऐसे लोग चाहिए जिनके लिए वह जी रहा हो। यही जीवन की विचित्रता है ! एक ओर यदि जीवन का स्पर्श कम हो चले तो अमीबा की तरह मनुष्य अपने हाथ दूसरी वस्तु के स्पर्श की चाह में आगे बढ़ाता है। अम्बपाली के चले जाने पर सूर्यमणि ने कुछ इसी प्रकार का अनुभव किया। उसने जीवन का स्पर्श पाने के लिये दूसरी ओर अपने हाथ बढ़ाए और चन्द्रसेना ने उन्हें पकड़ लिया।

"पीली, बेचारी लड़की !"—अम्बपाली ने कुछ उत्सुकता से सोचा—"उसे भी वैभव और प्रेम का अनुभव होना चाहिए।"

कुमारगुप्त अच्छा हो गया था। वह फिर शीघ्र ही संघ में चला जाना चाहता था। जब वह रोग-शय्या पर पड़ा था, तब वह बहुधा चिल्लाने लगता। वह कहा करता—"न, न, मैं एक महान् परिवर्त्तन में भाग लेने के लिए पैदा हुआ हूँ। तुम मुझे पकड़ नहीं सकतीं। मैं बन्धनहारा हूँ। मैं मुक्त हूँ। मेरी भाग्य की देवी वह उधर मुस्करा रही है। उस प्रकाश में मैं एक महान चक्र को चलता हुआ देख रहा हूँ। हम सब उस पर चढ़-उतर रहे हैं। मेरे साथ अम्बपाली है।"

और इसी प्रकार की कल्पना से थक कर उन्माद-ग्रस्त कुमारगुप्त अचेत हो जाता।

अब वह अच्छा हो गया था और अम्बपाली के प्रांगण और उद्यान में दीख पड़ता। अम्बपाली ने उससे भिक्षुणी बनने की इच्छा प्रगट की थी। इससे वह प्रसन्न था।

उसने कहा—"अम्बपाली मुझे तुम्हारा यह प्रासाद शीघ्र छोड़

देना होगा। तुम मेरे कौशेय वस्त्र देखती हो। भिक्षु का अम्बपाली के भवन में रहना संघ के लिए अपमान-जनक है !"

अम्बपाली ने कहा—"और जब अम्बपाली स्वयम् ही संघ की शरण में चली जाय ?"

"तब यहाँ यह वैभव दिखाई न पड़ेगा, अंबिका", वह कहता, मैं इससे उकता गया हूँ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारा यह सारा वैभव वैशाली की नगरी के ऊपर भार है।

वह मुस्कराया। उसने कहा—"और तुम्हारा रूप भी !"

अम्बपाली मौन थी।

कुछ समय के बाद कुमारगुप्त ने कहा—"अम्बिका, वह युवक जिस पर मैंने उस दिन आघात किया बौद्ध हो गया है। वह लड़की भी भिक्खुनी बन गई है। उन्होंने मेरी आँखें खोल दीं। उस दिन जब तुम्हारा यह प्रांगण भूखों से भर गया था……"

अम्बपाली ने कदाचित् निरुद्देश्य कहा—"बड़ा भयानक अकाल था तब ! तुम्हें स्मरण है ?"

"हाँ, उस दिन तुम्हारा यह प्रांगण उन भूखों से भर गया था। वह अन्न चाहते थे। अन्न उन्हें कहाँ से मिलता। वैशाली के राज-पुरुषों ने उसे अपने प्रासादों में बंद कर रक्खा था। नगर के सार्वजनिक भांडार खाली हो गये थे। उसके बाद मैंने अपने काम का अनौचित्य देखा। उस दिन आचार्य प्रबुद्धकेतु तथागत की बात कर रहे थे। उन्होंने एक कथा सुनाई। एक दिन तथागत उपदेश करने जा रहे थे कि उनकी दृष्टि एक श्रोता पर पड़ी। वह पीला पड़ रहा था। कदाचित् उसने उस दिन भोजन नहीं किया था। तथागत ने कहा—"मित्रों, इस संसार में सब से आवश्यक वस्तु क्या है ?"

लोग आश्चर्य में एक दूसरे को देखने लगे।

एक ने कहा—"धर्म !"

दूसरे ने कहा—"सत्य !"

तीसरे ने कहा—"क्षमा !"

चौथे ने कहा—"दया !"

पाँचवें ने कहा—"ज्ञान !"

तथागत मौन रहे ! उन्होंने गम्भीरता से प्रश्न पर विचार किया। फिर उन्होंने कहा—"जानो कि सब से आवश्यक वस्तु भोजन है। राष्ट्र का सब से पहला कर्त्तव्य यही है कि उसके नागरिक भोजन पायें।"

और उन्होंने उस भूखे व्यक्ति की ओर इंगित करके कहा—"यह व्यक्ति भूखा है। इसे भोजन कराओ।"

"उपदेश स्थगित हो गया और उसने भोजन किया। तब तथागत ने उपदेश दिया कि जो भूखे को भोजन कराता है, वह धर्म के सब से बड़े पुण्य का भागी होता है। हम इन प्रासादों में वैभव की वस्तुएँ इकट्ठी करते हैं। ये सब कहाँ से आती हैं ? यही अन्न में बदली जा सकती हैं। उसी को जनता की दृष्टि से छिपाने के लिए हमने इन चमकते हुए पदार्थों के रूप में बदल लिया है।"

उसके स्वर में उत्तेजना थी। अम्बपाली ने इसका अनुभव किया।

उसने कहा—"तुम अभी रोग-शय्या से उठे हो, कुमारगुप्त !"

कुमारगुप्त ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। उसने कहा—"तुम्हें यह प्रासाद छोड़ देना होगा। अम्बपाली ! यदि तुम मुझसे प्रेम करती हो तो तुम्हें वैभव और विलास के हिम-शिखर से नीचे उतर कर जनता के समतल पर आना पड़ेगा। तुम सुनती हो ?"

अम्बपाली ने कहा—"क्या अम्बपाली पर विराग सध सकेगा ?"

"सधेगा कैसे नहीं !" कुमारगुप्त ने उत्साह से कहा—"हमने जीवन के किन सुखों का उपभोग नहीं किया ? क्या हम पंक में फँसे रहेंगे ? क्या ऊपर का आलोक तुम्हें नहीं मिलेगा ? यह शरीर और इसके सौन्दर्य के उपकरण नष्ट हो जायँगे। नहीं; कल ये शिथिल हो जायँगे और तुम वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी (वह हँसा

कि वह जो कभी उसके सौन्दर्य की उष्णता का अनुभव करता था, उपदेश दे रहा था।)—"कल तुम उपेक्षिता होगी !"

अम्बपाली ने देखा—उसकी आँखों में सात्विक चमक है। सत्य ही जैसे वह महान् क्रान्ति में भाग लेकर गौरव का अनुभव कर रहा हो।

उसने कहा—"तुम ठीक कहते हो। मुझे बदलना होगा।"

कई दिन बाद एक दिन सूर्यमणि आया। अम्बपाली के अकस्मात् आ पहुँचने से उसे एकदम आश्चर्य हुआ। उसने उससे मिलना छोड़ दिया परन्तु वह इतना आगे बढ़ चुका था कि वह लौट कर अम्बपाली तक नहीं आ सकता था।

अम्बपाली ने कहा—"मैं परिषद के कार्यों में व्यस्त था। इसी से आ नहीं सका। क्या कोई असुविधा हुई ?"

अम्बपाली ने मुस्करा कर सिर हिलाया। "नहीं," उसने कहा, "धन्यवाद। मुझे कोई असुविधा नहीं हुई। क्या हेमांक का कोई पत्र आया ?"

"हाँ, वह इस समय ताम्रलिप्त में है। क्यों है, यह मैं नहीं कह सकता। शायद उसे अजातशत्रु से चिढ़ है। इसी से उसने अंग छोड़ कर वंग की शरण ली है।"

अम्बपाली ने हँसते हुए कहा—"वहाँ उसे ऐसे तांत्रिक मिल जायँगे जो उसकी अमर सौन्दर्य और अनश्वर जीवन की खोज में सहायता देंगे।"

संध्या होने आ रही थी। अम्बपाली ने उससे कहा—"आर्य सूर्यमणि, मुझे संघाराम जा कर आचार्य प्रबुद्धकेतु से कुमारगुप्त के स्वास्थ्य का हाल-चाल कहना है! आप मेरे साथ चलेंगे या यहीं मेरी प्रतीक्षा करेंगे। मुझे अधिक देर नहीं होगा।"

"जो आप कहें !" उसने अम्बपाली के ऊपर टाल दिया।

"तो आप यहीं रहिए।" वह मुस्कराई। "चन्द्रसेना आप का आतिथ्य करेगी और······मनोरंजन।"

उसने कक्ष की ओर जाते हुए आवाज़ दी—"चन्द्रसेना !" और कक्ष के अन्दर उसका मंद हास्य गूंज गया।

कुमारगुप्त तब उद्यान में वायु-सेवन करने जा चुका था। जब वह बाहर निकल कर आई तो उसने दोनों को धीरे-धीरे बात करते देखा। उसे देख कर चन्द्रसेना ने उठ कर अभिवादन किया। उनकी ओर देख कर मुस्कराती हुई अम्बपाली प्रकोष्ठ और प्रांगण के पार हो गई। उसकी इस मुस्कान में न ईर्ष्या थी, न द्वेष !

चौबीसवाँ परिच्छेद

बुद्ध इस बार फिर वैशाली आये और वे अम्बपाली के आमों वाले नगर के बाहर के आराम में ठहरे। अम्बपाली ने इसे सुना। तथागत ने उसके आराम को ही क्यों चुना ? क्या इसमें भी अदृष्ट का हाथ नहीं है ? क्या वह यह समझे कि समय आ गया है ?

वह अपने को गौरवान्वित अनुभव करने लगी। वैशाली के इतने राजपुरुषों, श्रेष्ठियों और स्वयम् सघाराम को छोड़ कर तथागत उसके आराम में ठहरे—यह क्या उसके गर्व की बात नहीं है ! उसने निश्चय किया कि उनके पास जायगी और उन्हें अपने भवन में निमंत्रित करेगी। उसने सोचा—जो बुद्ध हो चुका, जो इतना महाप्राण है वह क्या उसे हेय, अछूत समझेगा ? उस समदर्शी के लिए अम्ब-पाली न स्त्री है, न पुरुष, न गणिका !

कल जब वह कुमारगुप्त को रथ में बिठा कर संघाराम छोड़ आई थी तो उसे या किसी को भी बुद्ध के आने का अनुमान ही नहीं था। सारा नगर एक नई हल-चल में जाग उठा। वैशाली के राज-पुरुषों की परिषद् ने बुद्ध को निमंत्रित करने का विचार किया।

अम्बपाली बुद्ध को निमंत्रित करके लौट रही थी कि उसे लिच्छिवि राजपुरुष अपने रथों को तेज़ी से बढ़ाते हुए आते दिखाई

दिये। वह गर्व से भर गई। क्या आज वैशाली में उससे अधिक सौभाग्यशाली कोई है!

वे परिषद् की ओर से बुद्ध को निमंत्रण देने जा रहे थे। उसने पहचाना—उसमें भीमसेन और सूर्यमणि भी हैं।

उसने गर्व से भर कर अपने रथ को उसके बीच में डाल दिया और उनके मुखों पर मुस्कराती हुई बढ़ने लगी।

एक राजपुत्र ने कहा—"क्या है, अम्बपाली! क्या तुम लिच्छिवि राजपुरुषों की होड़ कर रही हो?"

वह मुस्कराया।

क्षण भर के लिए वह रुक गए। उन्होंने उसका अभिवादन किया।

अम्बपाली ने कहा—"लिच्छिवि-राजकुमारों, मैं तथागत के पास से आ रही हूँ।"

"हम वहीं जा रहे हैं।" कई बोले।

अम्बपाली ने कहा—"मैंने उन्हें अपने घर निमंत्रित किया है!"

सब स्तब्ध रह गए।

अम्बपाली मुस्कराने लगी।

यह मौन एक नवयुवक ने तोड़ा। उसने कहा—"क्या तथागत ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया है?"

अम्बपाली ने गर्व से फूल कर कहा—"तथागत कल अम्बपाली के भवन में भोजन करेंगे। राजपुरुषों, मैं तुम्हें भी इस अवसर पर निमंत्रण देती हूँ।"

तब वहाँ जाना व्यर्थ है—

अम्बपाली से उन्होंने कहा—"उसके लिए धन्यवाद! परन्तु क्या तुम यह आतिथ्य हमें नहीं दे सकतीं?"

"नहीं!"

"किसी भी शर्त पर?"

"नहीं!"

"एक लक्ष मुद्रा ?"

"नहीं !"

अम्बपाली मुस्कराई। उसने उनकी ओर कटाक्ष करते हुए कहा—"क्या अब भी विश्वास नहीं है ?"

भीमसेन ने कहा—"वैशाली की नागरिक के नाते तुम्हें पहला आतिथ्य परिषद् को देना चाहिए।"

अम्बपाली ने अपना रथ बढ़ा कर कहा—"राजपुरुषों, इतनी उत्सुकता क्यों ? फिर भी, तुम उनसे वचन बदलने को कह सकते हो।"

और वह मुड़ कर उनकी ओर देखती हुई विजय और गर्व की एक किलकारी छोड़ कर आगे बढ़ गई।

आज की उसकी विजय प्रति वर्ष के मधुपर्व की विजय से भिन्न थी। तब वह एक विलासिनी की विजय थी। उसमें आत्मा की हार थी। रूप की जय। आज रूप ने आत्मा के आगे हार मान ली। वह जैसे पृथ्वी से बहुत ऊँची उठ गई थी। अदृष्ट ने उसको बुद्ध के मार्ग में ला कर डाल दिया था। वह रात अम्बपाली के काटे नहीं कटती थी। कब प्रातःकाल हो ? कब प्रभु आएँ ? बुद्ध का व्यक्तित्व उसे छू गया था !

दूसरे दिन बुद्ध आए। वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ने बहुत दूर आगे बढ़ कर उनके चरण पकड़े।

बुद्ध के पीछे आते हुए राजपुरुषों ने उसको सुनाते हुए आपस में कहा—"अम्बिका ने हमें हरा दिया !"

परन्तु अम्बपाली को यह सब सुनने का अवकाश कहाँ था !

वह बुद्ध को भोजन कराने में संलग्न हो गई।

प्रासाद राजपुरुषों और दर्शकों से भरा हुआ था। भोजन के बाद अम्बपाली ने बुद्ध के चरणों में नमस्कार किया। उसके मुख पर एक प्रकार की सात्विक दीप्ति थी।

उसने कहा—तथागत के पवित्र चरणों की रज लेकर मैं धन्य हो गई। मैं अपना आराम बौद्ध-संघ और उसके प्रधान बुद्ध को देती हूँ! आर्य उसे स्वीकार करें—!"

उपस्थित सज्जनों ने हर्ष-ध्वनि की।

बुद्ध मुस्कराए! उन्होंने गंभीर स्वर से कहा—"पुत्री, मुझे तुम्हारा दान स्वीकार है!"

उनकी शांत मुद्रा और उनके अन्दर की प्रतिभा के स्पर्श पा अम्बपाली का हृदय नाच उठा।

संध्या हो रही थी कि अम्बपाली आराम का दान-पत्र और राजाज्ञा ले कर आराम पहुँची और उसने उन्हें बुद्ध के श्री-चरणों में रक्खा।

महात्मा बुद्ध सहसा किसी गहरे चिन्तन में लीन हो गए।

उन्होंने उसके मस्तक पर हाथ रख कर पूछा—"तुम क्या चाहती हो?"

"शांति!"

बुद्ध मुस्कराए। उन्होंने कहा—"प्रत्येक व्यक्ति के पास आएगा, उसे शांति मिलेगी। परन्तु वह शांति चुम्बक की अग्नि की भाँति स्वयम् उसके भीतर से फूटेगी। उसका श्रेय उसे ही होगा।"

उन्होंने आनन्द को पुकारा—"आनन्द! तुम अम्बपाली को बुद्ध के धर्म से परिचित कराओ।"

उन्होंने कहा—"भिक्खुओं, तथागत के धर्म में कोई गाँठ तो है नहीं। वह सब का परिचित मार्ग है। उसे तुम्हारा हृदय कहेगा, तुम्हारी संज्ञा कहेगी, तुम सम्यक् ज्ञान से उसे जानोगे। तुम्हारा धर्म है कि तुम मेरे इस सरल जीवन के पथ का पता उन्हें दो जिन्हें इसकी आवश्यकता है।"

पचीसवाँ परिच्छेद

धीरे-धीरे अम्बपाली संघ-श्रावकों और थेर-थेरियों में दिलचस्पी लेने लगी। उनके जीवन का वृत्त जान कर उसका हृदय उल्लास और प्रेम से भर जाता। शुभा अब अपनी ज्योति-हीन आँखों को उसके मुँह पर डाल कर सरल गर्व से कहती—"रूप और उसके द्वारा उत्पन्न उन्माद दुख के कारण हैं, पुत्री। तथागत की इस पुत्री ने इस बात को समझ लिया है"—तो उसका मुख दीप्त हो उठता।

एक बार अम्बपाली ने पूछा—"माँ, क्या तुम्हें आँखों के गोलक निकालते हुए कष्ट नहीं हुआ?"

शुभा हँस पड़ी। उसने कहा—कष्ट क्यों होता है। पुत्री, मन को इंद्रियों का विषय बनाना कष्ट है; इन्द्रियों के व्यवहार से मुक्ति पा जाना कष्ट नहीं है। उससे शांति और सुख की अवतारणा होती है।… …मैंने एक जीवन को ज्योति तो दिखाई! स्वयम् मेरी ज्योति बुझ गई तो क्या?"

वह कहती—"मुझे जीवन के उद्यान की चाँदनी से धुली हुई वह रात भूली नहीं है। संसार का मोहमय सौन्दर्य! ओ, मनुष्य को वह कैसे खींचता है?"

वह चुप हो जाती—

अम्बपाली आनन्द से उपदेश लेती। जीवन, राग, विराग और तथागत के सम्बन्ध में बौद्ध थेर-थेरी परस्पर बातें करते तो वह भी उपस्थित रहती। धीरे-धीरे कुमारगुप्त का मोह उसे कम होने लगा। अब वह वैशाली-संघ का एक प्रमुख भिक्खु था।

बुद्ध के साथ जो भिक्खु-भिक्खुणियाँ आए थे उनमें एक भिक्खुणी के प्रति अम्बपाली अधिक आकर्षित हुई। आनन्द जब उसे उपदेश देते होते तो मौन, छाया की तरह एक विषण्ण मुख उनकी ओर झाँकता और थोड़ी देर बाद एक पीली युवती उनके

चरणों में आकर बैठ जाती। जब तक आनन्द उपदेश देते, वह वहाँ बैठ कर उनके चरणों की ओर देखती रहती।

उपदेश समाप्त होने पर आनन्द उसकी ओर देख कर कहते—"प्रकृति, तुम समझ रही हो?"

युवती की आँखें मुस्कराहट में खिल कर उनकी ओर उठ जातीं। वह कुछ भी उत्तर नहीं देती थी परन्तु उसका वह मौन आनन्द के प्रश्न का सब से बड़ा उत्तर हो जाता।

एक दिन अम्बपाली उसी तरह आनन्द का उपदेश सुन रही थी। प्रकृति पास बैठी थी। वह मौन थी। सहसा वह चिल्ला उठी—"न, न, माँ, रहने दो मंदार का फूल। रहने दो, माँ।"

अम्बपाली ने उसकी ओर देखा। वह उत्तेजित थी। उसकी आँखें लाल हो रही थीं। वह चिल्ला रही थी—"मैं उन महाप्राण को देख रही हूँ। माँ, वे आ रहे हैं, वे आ रहे हैं, वे जो सूर्य-चन्द्र-तारों-गृह-नक्षत्रों से भी दूर हैं, वे मुझ क्षुद्र के लिये आ रहे हैं, माँ। मेरे सिवा और किस की पूजा उन्हें चढ़ सकेगी? कौन उन्हें इतने ऊँचे आसन पर बिठाएगा? वे वैशाली के सिंहद्वार की ओर बढ़ रहे हैं। वे बढ़ रहे हैं, वे आ रहे हैं—नदी पर नाव में मैं उन्हें देख रही हूँ।"

आनन्द ने उसे बाहुओं पर थाम लिया और वह उसी तरह विक्षिप्त की आँखों से उसे देखता रहा। जैसे वह एक अलौकिक स्वप्न देख कर सहसा पृथ्वी का अस्तित्व भूल गई हो।

थेर-थेरियों और भिक्खु-भिक्खुणियों ने उसे घेर लिया।

अम्बपाली को बड़ा आश्चर्य हुआ। एक थेरी ने कहा—प्रकृति को उन्माद का रोग है।"

आनन्द ने उसकी ओर देखा, फिर चिंतित भाव से सिर झुका कर अपनी बाहुओं पर पड़े मृत-प्राय मुख को। उन्होंने कहा—भिक्खुओं, जगह छोड़ दो!"

वह स्वयम् धीरे-धीरे अपने कौशेय से उसके मुख पर हवा देने लगे। अम्बपाली पानी के छींटे दे रही थी।

कुछ क्षणों बाद प्रकृति ने आँखें खोलीं। उसने विस्मय से अपने चारों ओर देखा। उसने धीरे से कहा—"क्या मैंने दर्पण तोड़ दिया है ? उनके स्पर्श से मैं अब चांडालिना नहीं रही हूँ माँ, उन्होंने मुझ रज को पृथ्वी से उठा लिया और हृदय से लगाया है।" और वह फिर चीख पड़ी.........रहने दे, रहने दे चाँडाली, रहने दे माँ! उनके तप को भंग मत कर। अरे, उनके मुँह की उज्ज्वलता नष्ट हो गई है और उस पर मर्मान्तिक वेदना का छाया है। रहने दे, रहने दे, हत्यारिनी !"

फिर वह पूर्णतया अचेत हो गई। धीरे-धीरे उसके मुख पर एक प्रशांत आभा मुस्कराने लगी।

●अम्बपाली ने आनन्द की ओर देखा। उनके मुख पर चिन्ता खेल रही थी। क्षण भर बाद उन्होंने मुस्करा कर कहा—"अम्बपाली, यह प्रकृति के विगत जीवन का नाटक देख रही हो। इसका पात्र मैं हूँ।"

अम्बपाली ने विस्मय से उन्हें देखा। आनन्द ने धीरे-धीरे कहा, जैसे वह आप ही उनके कंठ से फूट पड़ा हो—"यह मुझसे प्रेम करती थी।"

फिर उन्होंने ऊँचे स्वर में कहा—"आनन्द की साधना के पथ पर दृढ़ रखने वाले बुद्ध की जय हो! शांति, शांति, नमो: बुद्धाय: !"

अम्बपाली को प्रकृति की सुश्रुषा में छोड़ कर वह वहाँ से चले गए।

क्या उनके हृदय में संघर्ष हो रहा था ?

धीरे-धीरे प्रकृति जागी। उसकी आँखों में शांति थी। उसने अपने चारों ओर देख कर अम्बपाली को पाया। उठते हुए धीरे से उसने कहा—"क्या मैं सो गई थी ?"

अम्बपाली को उस पर दया आई। उसने कहा—"बहन ! तुम उन्मादिनी की भाँति बक रही थी !"

"मैं एक भयंकर स्वप्न देख रही थी," कह कर प्रकृति मुस्कराई।

संघाराम में बाहर श्रमण गा रहे थे—

बुद्धो सुसुद्धो करुण महाराणवो।
योऽचन्त सुद्धव्वर ञान लोचनो ॥
लोकस्स पापूसकिलेस-घातको।
बन्दामि बुद्धं अहमादरेण तं ॥

सहसा कोलाहल मच गया। पास के गोशिर संघ में दीक्षा हो रही थी। हज़ार-हज़ार कंठ बोल रहे थे।

"धर्मं शरणम् गच्छामि।"

"संघं शरणम् गच्छामि।"

"बुद्धं शरणम् गच्छामि।"

अम्बपाली और प्रकृति ने वहाँ पहुँच कर जो देखा उससे अम्बपाली विस्मित रह गई। दस्यु श्रेष्ठि नृसिंह सिर मुड़ाए, पीले वस्त्र पहरे बुद्ध के सामने खड़ा था।

उसके पीछे सारा आराम दस्युओं से भरा हुआ था। पब्बज्जा समाप्त हो चुकी थी। कुछ दस्युओं का उपसम्पदया संस्कार हो रहा था।

नृसिंह ने बुद्ध के सम्मुख हाथ जोड़ कर कहा—"महाबोधिसत्व ने मुझे चरणों में स्वीकार किया है। मैं आज धन्य हूँ। मेरे पिछले जीवन की सारी कालिमा उनकी करुणा के जल से धुल गई है। अब मैं उज्ज्वल हो गया हूँ। मेरे जीवन में एक काँटा खटकता रहा है। आज उसे भी दूर कर रहा हूँ।"

वह चुप हो गया।

बुद्ध प्रशांत। वे मुस्कराए!

दस्युश्रेष्ठि ने कहा—"मैंने आज वैशाली के आमात्य स्वर्णसेन से क्षमा-प्रार्थना की है। मेरे हृदय में अब उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं रहा। मैंने क्रोध और प्रतिहिंसा के द्वारा उनकी आत्मा का संहार करना चाहा था। अब बुद्ध की शिक्षा ने मुझे दूसरा मार्ग दिखा दिया है। आमात्य के प्रति मेरे हृदय में दया है। जिस कन्या से उन्होंने बलात्कार किया था उसके गर्भ से मैं उनका पुत्र हूँ।"

वैशाली के जो राजपुरुष बुद्ध का उपदेश सुनने के लिए इकट्ठे थे, वे स्तब्ध रह गए।

दस्युश्रेष्ठ और उसके पीछे दस्युओं ने पुकारा—

"नमो बुद्धायः!"

और श्रमणों ने मंत्रोच्चार किया, "बुद्धो सुसुद्धो करुण महाराणवो.......।"

नृसिंह अम्बपाली की ओर देख कर मुस्कराया। उसका रहस्य अब तक वही जानती थी। अब सारी वैशाली जान लेगी। उसने अपने जीवन में नया परिच्छेद खोला था, वह अनुभव कर रहा था।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

दूसरे दिन अम्बपाली भी संघ में दीक्षित हो गई। वह नृसिंह की दीक्षा से प्रभावित हुई थी।......अब निश्चय ही समय आ गया—उसने सोचा।

घर पर पहुँच कर उसने चन्द्रसेना को बुलाया। उसके हाथ में प्रासाद की कुंजियाँ देकर उसने कहा—"लो, यह अम्बपाली का उपहार है!"

वह चकित हुई।

"इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, चन्द्रसेना" उसने कहा—"यह प्रासाद और इसका वैभव अम्बपाली के काम का नहीं। जिन्होंने उसे अभी नहीं जाना है, उन्हें वह यह सौंपे जाती है।"

उसने सूर्यमणि को बुलाया।

उसने कहा—"तुम चन्द्रसेना से प्रेम करते हो?"

वह मुस्कराई!

सूर्यमणि चुप रहा।

उसने कहा—"प्रेम करना पाप नहीं है, यह चन्द्रसेना आज से अम्बपाली के वैभव की स्वामिनी है। उसके कुल और रूप की बात तुम जानते ही हो। अब वह मुक्त है। तुम उसे विवाह के सूत्र में बांध सकते हो!"

और दूसरे दिन सिर मुड़ाए, कौशेय वस्त्र धारण किये वह थेरियों और भिक्षुणियों के साथ नगर के राजपथों पर चल रही थी। जनता की एक बड़ी भीड़ उसके पीछे थी। राजपुरुष उसे देखने आते और बुद्ध-श्रमण उसे उसके निश्चय पर बधाई देते। भिक्षुणी अम्बपाली विलासिनी अम्बपाली से अधिक सुन्दरी थी। अब उसका सौन्दर्य साधना की आग में तप कर निखरने लगा।

उस दिन नगर से लौट कर उसने कुमारगुप्त से कहा—"देखते हो, हम अनजान ही इस चक्र पर चढ़ गए। अब हम इससे उतर नहीं सकते!"

कुमारगुप्त ने उसकी ओर प्रशंसा की दृष्टि से देखा।

शाक्यमुनि चातुर्मास्य समाप्त होते ही मल्लों के देश चले गए। उनके साथ आनन्द, प्रकृति, अग्रश्रावक और कुछ थेरियां भी गई थीं!

उधर अजातशत्रु की ओर से वैशाली का भय दिन-दिन बढ़ता जाता था। अब मगध उसका संबंधी था। चम्पा को भी उसने विजित कर लिया था। रह गये थे केवल मल्ल और वृजि गणतंत्र। उनमें भी भीतर-भीतर असंतोष और गृहकलह के बीज बोये जा रहे थे। अकाल के बाद वैशाली की आर्थिक परिस्थिति कुछ सुधर तो अवश्य गई थी परन्तु इस अकाल ने जनता के प्रत्येक वर्ग पर अपनी छाप छोड़ रक्खी थी। राष्ट्र में पहली-जैसी चेतनता फिर न आई!

वैशाली धीरे-धीरे बौद्ध नगरी हो गई। लोग एक नए धार्मिक उत्साह से भर गए। प्रत्येक पखवाड़े में जीवक के उद्यान में एक संगति बैठती और अनेक धार्मिक विषयों पर तथागत के विचारों का मनन होता। संगति की समाप्ति पर थेरियाँ भक्ति और श्रद्धा के भजन गातीं।

अम्बपाली संघ की एक महत्त्वपूर्ण सदस्या थी। प्रत्येक संगति के अवसर पर जब आचार्य उपदेश दे चुकते और थेरियों के भजन समाप्त हो जाते तो जनता उससे कुछ गाने की प्रार्थना करती। कितने ही प्रार्थना गान स्वयम् उसके रचे होते! लोग मंत्र-मुग्ध हो कर सुनते।

आक्रमण के भय और नये धर्म की दीक्षा के उत्साह के बीच से वैशाली धीरे-धीरे वर्षों के चरण चिन्ह छोड़ती आगे बढ़ रही थी!

एक दिन सूर्यमणि विहार में अम्बपाली से मिला। उसने कहा—"मुझे विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि परिषद् के कुछ सदस्य अजात के सिहपदों से मेल रखते हैं। उन्हें न वैशाली की इष्ट-कामना है, न बज्जी-धम्म का विचार। परिस्थिति अच्छी नहीं है। यदि राजगृह का आक्रमण हुआ तो गणतंत्र का भविष्य घोर अन्धकारमय होगा। ऐसी अवस्था में तुम हमें क्या करने की सलाह देती हो?"

अम्बपाली मुस्कराई! उसने किञ्चित परिहास के ढंग पर कहा 'भिक्षा-वृत्ति करने वाली अम्बपाली तुम्हारी राजनीति क्या समझे!"

सूर्यमणि ने गंभीर हो कर कहा—"यह इतनी उथली बात नहीं है, अम्बपाली। क्या तुम भिक्षु-भिक्षुणियों का कोई उत्तरदायित्व नहीं है? तुम, जो कल तक वैशाली-राष्ट्र के प्रमुख व्यक्ति थे!"

वह चुप हो गया। क्षण भर दोनों चुप रहे।

फिर अम्बपाली ने कहा—"तुम यह कह सकते हो कि इतने लोगों के धर्म परिवर्त्तन करने से राष्ट्र में दुर्बलता आ गई। यह संभव भी है। परन्तु भगवान् बुद्ध का निदान आत्मा के रोगों के लिये था, राष्ट्र के रोगों के लिए नहीं। क्या समय पड़ने पर भिक्षु खड्ग धारण नहीं करेंगे?"

सूर्यमणि के मुँह पर हास्य की रेखाएं खुल पड़ीं।

उसने कहा—"मुझे विश्वास नहीं है। तथागत का धर्म मनुष्य के मूल में एकदम परिवर्त्तन कर दे, यह आवश्यक नहीं है। इसी अजातशत्रु को देखो। क्या वह बौद्ध नहीं है? क्या प्रसेनजित् और उसकी प्रजा बौद्ध नहीं थी? और क्या भगवान् ने अहिंसा को सब से बड़ा तप नहीं माना है? फिर एक बौद्ध-राष्ट्र का दूसरे बौद्ध-राष्ट्र के रक्तपात के लिये उतावला हो उठना कैसा! परन्तु सामने जो है, उसी को लेकर चलो तो यह भी कह सकते हैं कि राष्ट्र धीरे-धीरे केन्द्र-च्युत हो गया है। अब न निर्वाचन के समय वह उत्साह दीख पड़ता है, न विद्रोह के ही लक्षण हैं। राष्ट्र की आत्मा जैसे थक गई हो, सो गई हो। वैशाली के पहले के राजनैतिक उत्कर्ष का देखते हुए एक बड़ी विडंबना है!"

अम्बपाली सामने आकाश में उड़ती हुई बलाका देख रही थी। आषाढ़ के पहले मेघ उमड़-उमड़ कर दिशाओं का भर रहे थे और आलोक धीरे-धीरे मंद पड़ता जाता था।

उसने कहा—"मैंने नगर के बदले हुए जीवन को देखा है। यह ठीक है कि हम मगध के आक्रमण का प्रतिरोध नहीं कर सकेंगे!"

"तो हम क्या करें?"

"परिषद् इस संबंध में क्या मत रखती है?"

"मुझे परिषद् के ऊपर जरा भी विश्वास नहीं", सूर्यमणि ने कहा, "वहाँ ढोंगी, भीरु और संतोषी भरे पड़े हैं। तुम तो जानती हो कि अज्ञानी जनता का मत पा लेना कितना सरल है। जनता जिसे आज सिर पर मुकुट की तरह धारण करती है, कल उसे पैरों के नीचे कुशा की तरह रौंद भी देती है। आज तो हमें कुचले जाने का डर है।"

अम्बपाली ने कहा—"हताश होने की कोई बात नहीं है, सूर्य-मणि। तुम शीघ्र ही मार्ग पा जाओगे। मैं कुमारगुप्त और नृसिंह से इस विषय में परामर्श करूँगी। वैशाली अब भी हमारी मातृभूमि

है।" फिर उसने बात बदलते हुए कहा—"मैंने सुना है, चन्द्रसेना को शरीर-कष्ट है। तुम उसे लाए नहीं!"

वह मुस्कराई।

सूर्यमणि लजा गया। उसने स्वस्थ होते हुए कहा—"चन्द्रसेना जब आयेगी तो अपने शरीर-कष्ट के कारण की सफ़ाई दे लेगी। देवि, आपके कई गीत उसे याद हैं। वह उसे प्रिय हैं।"

"मेरे गीत!"—हलका अट्टहास करते हुए अम्बपाली ने कहा—"वह तथागत के चरणों में गिरी हुई मेरी पुष्पांजलियाँ हैं। क्या चन्द्रसेना उन्हें गाती है?"

"हाँ", संकोच, उत्साह और गर्व के साथ सूर्यमणि ने कहा और "वह उन्हें गाती है। कल उसने अन्तरायण से एक नई वीणा ली है। कौशम्बी का एक वीणाकार आया हुआ है………"

अम्बपाली ने बात काटते हुए कहा—"कौशम्बी वीणा-विद्या का केन्द्र है। मैंने एक बार महाराज उदयन की वीणा सुनी थी।"

"इसी वीणाकार ने उनकी प्रसिद्ध 'हस्तिकांतार वीणा' बनाई थी", सूर्यमणि ने कहा।…………"चन्द्रसेना उस वीणा को आपके पास लाने को कहती थी।"

अंबपाली क्षण भर के लिये मलिन पड़ गई। फिर उसने मुस्कराते हुए कहा—"चन्द्रसेना से कहना, वह कष्ट न करे। मैं शीघ्र ही वहाँ आऊँगी और तब मैं उसकी वीणा स्वीकार कर लूँगी।"

इतने में एक श्रमण-बालिका ने प्रवेश करते हुए कहा—"देवि, स्नान करेंगी?"

अंबपाली ने उठते हुए कहा—"हाँ तो सूर्यमणि, मैं उस विषय में सोच कर कुछ स्थिर करूँगी। अभी आकाश डरावना हुआ जा रहा है। थोड़ी देर में बूँदें गिरने लगेंगी। क्या तुम लौट रहे हो?"

"हाँ देवि", सूर्यमणि ने कहा—"मुझे नगर की ओर चल पड़ना चाहिये!"

उसने विहार के उस भाग की ओर इंगित किया जहाँ उसका रथ खड़ा था।

"जाओ और चन्द्रसेना को मेरा आशीर्वाद कहा," अम्बपाली ने कहा। और कुमारगुप्त के साथ ही उसने कक्ष छोड़ कर स्नानागार की राह ली।

दुपहरका समय था परन्तु घने, काले, जामुनी रंग के आषाढ़ के उमड़ते मेघों से प्रदोष जान पड़ता था।

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

वैशाली की स्वर्णकार-वीथी के एक आपण की बात है।

हेमन्त का प्रभात था। सूर्य काफ़ी ऊँचा चढ़ आया था। नगर भर में चहल-पहल थी, विशेष कर वीथियों और अन्तरायण में। अनेक विदेशी और अन्य राष्ट्रों के व्यापारी अपने विचित्र पहरावों से दृष्टि को हठात् आकर्षित कर लेते थे।

रत्नसेन ने अभी अपनी दुकान खोली थी कि एक व्यक्ति सोने का एक सुन्दर कंकण लिए उसके पास आया।

"इणदान दोगे?"

"क्या है?"

"कंकण।"

"लाओ।"

रत्नसेन ने सोने को कसौटी पर घिस कर देखा। फिर उसने गुञ्जाओं के स्तवकों से उसे तोला।

बेचने वाले व्यक्ति ने कहा—"मुझे एक सौ सुवर्ण चाहिये!"

रत्नसेन ने उसे लौटाते हुए कहा—"इतना नहीं होगा!"

"तो कितना?"

"मैं तुम्हें पचास मुद्राएँ दे सकूँगा।"

रत्नसेन ने कहा, "तुम्हें इणपण्ण लिख देना होगा। तुम जानते हो अनुसेट्ठी इस विषय में बड़े कड़े हैं!"

"मैं इणपण्ण लिख दूंगा", उस व्यक्ति ने कहा, "परन्तु··कुछ अधिक दो।"

रत्नसेन ने कंकण को उँगलियों में घुमाते हुए कहा—"अभी सोने की दर इतनी नहीं आई। तुम जानते हो अकाल के समय······"

उस व्यक्ति ने बात काट कर कहा—"जो हो, मुझे तुम सत्तर सुवर्ण दे सकोगे?"

रत्नसेन ने थोड़ी देर सोचा। फिर उसने पतला भोजपत्र और लेखनी उसके सामने कर दिये।

वह व्यक्ति लिखने लगा।

सहसा रत्नसेन ने पूछा—"तुम एक बार पहले भी आये थे—कई वर्ष पहले!"

उस व्यक्ति ने सिर ऊपर उठाए बिना कहा—"तब मैं ताम्रपर्णी से लौटा था।"

"वह तो विचित्र ठान है।"

उस व्यक्ति ने उसी तरह लिखते हुए कहा—"विचित्र ठान है, सेट्ठ! वहां हम दारूक के लिये ठहरते हैं। हम उसके अन्दर नहीं जाते। वहां यक्ख और रक्खस बसते है!"

"क्या तुमने स्वर्ण की लंका देखी है?"

"नहीं", उसने इणपण्ण उसके सामने करते हुए कहा, "मैं वहां केवल एक बार गया हूँ। दूसरी बार हमारा पोत बह गया। लकार व्यर्थ हो गया। कूपक, योत्तानि और पदरानि निकल-निकल कर दूर बह जाने लगे। हमें अकाल-बात महासमुद्र में बहा कर ले गया······! हाँ तो, इण दो!"

रत्नसेन ने मुद्राएं गिन कर उसके सामने रख दीं।

उसने उन्हें अपने उत्तरीय के अन्दर करते हुए कहा —"नाविक का जीवन बड़े संकट का है, सेट्ठ !"

"तुम किसके पोत पर नाविक हो ?"

महासेट्ठि नागराज के पोत पर।"

"ओ, वह तो सुवर्ण-भूमि से व्यापार करते हैं।"

"हाँ", उस व्यक्ति ने चलते हुए कहा, "उनके पास कई पोते हैं।"

कुछ देर बाद एक दूसरा व्यक्ति दुकान पर आया।

रत्नसेन ने उसका अभिवादन किया। "क्या तुम अंतरायण से आ रहे हो ?", उसने पूछा।

"हाँ", दूसरे व्यक्ति ने कहा, 'क्या कोई इधर नहीं आया !"

"नहीं !"

"सेट्ठ इन्द्रसेन को आज बड़ी हानि हुई है। अब वह एक साधारण नागरिक रह गए हैं।"

"क्या ? सेट्ठ इन्द्रसेन !", आश्चर्य दिखाते हुए रत्नसेन ने पूछा, "क्या हुआ ?"

"उनके दो पोत डूब गये हैं और आज उनका पासा ठीक नहीं पड़ा !" वह मुस्कराया। "उनके पण्य की दर इतनी गिर गई है कि नगर-सेट्ठी को उन्हें सावधान करना पड़ा था। अभी मैं वहाँ से आ रहा हूँ।"

"यह द्यूत का फल है।"

"अन्तरायण में पण्य के दाम लगाना क्या द्यूत कर्म है ?"

"और क्या ?", सेट्ठ रत्नसेन ने कहा— "जो महासेट्ठ का क्षण भर में कंगाल और भिक्षुक बना दे, वह वस्तु क्या होगी ?"

इसी समय राजमार्ग की ओर कुछ ग्रामीण अपनी गाएं ले जाते हुए दिखाई दिये। उनका एक तांता बँध गया था।

'यह इतने गोपालक नगर में कैसे आये ?"

"ये आज परिषद् के ग्राम-मंत्री से मिलेंगे। (मुस्करा कर) यह

ऐसे दिन हैं कि वैशाली में कोई प्रसन्न नहीं है। इन्हें परिषद के लगाए हुए प्रतिबंधों के प्रति कुछ कहना है।"

गोपालकों की वह विचित्र सेना समाप्त हुई।

उस व्यक्ति ने कहा—"ग्राम-भोजकों का कोई नहीं मानता। अब सब सीधे परिषद के गले पड़ते हैं। अद्भुत समय है!"

और वह उठ कर जाने लगा।

रत्नसेन ने उसे रोक कर पूछा—"एक बात बताओ। मंत्री स्वर्णसेन के पुत्र भीमसेन को सब सिंहपदों से मिला बताते हैं, क्या यह सत्य है?"

"हो सकता है।" कंठ में अनिश्चयात्मक ध्वनि लाकर दूसरे ने कहा—"मैं कह ही रहा हूँ, अद्भुत समय है। क्या नहीं हो सकता? संभव है।"

तब वह चला गया।

उन दिनों वैशाली की अवस्था के लिए यदि कोई शब्द उपयुक्त था तो यही 'अद्भुत'। सारे नगर पर आतंक, अनिश्चय और अनुद्यम के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते थे।

एक ओर एक भीड़ लगी थी।

"तुम कौन हो?" एक व्यक्ति ने एक से पूछा।

"मैं मिगलद्धक हूँ।"

"यह समारोह कैसा है?"

"हमें आज मार की पूजा करनी है। इस पूजा के लिए हम नगर के धनवानों से दान ले रहे हैं। तुम कौन हो?"

"नेसाद।"

उसी समय कुन्त हाथ में लिये और तूर्य बजाते वैशाली के कुछ सैनिक घुड़सवार निकले। भीड़ स्थान-स्थान से छट गई। वे नगर के बाहर जा रहे थे।

"क्या युद्ध होगा?" भीड़ में से एक ने कहा।

"शायद।"

"क्या राजगृह से ?"

"हाँ !"

धीरे-धीरे बढ़ कर सैनिक राजमार्ग को पार कर गये।

रत्नसेन ने अपने पड़ोसी से पूछा—"यह जो आदमी अभी तुम से बात कर रहा था, वह कौन था ?"

"पाषण कोट्टक। यह नए विहार में काम कर रहा है।"

"कितने क्षत्रिय भिक्षु हो गए हैं !" रत्नसेन ने कहा—"मैं समझता हूँ यही कारण है कि वैशाली इतनी हताश जान पड़ती है। सब नागरिक लड़ नहीं सकते !"

उसके पड़ोसी ने कहा—"मैं यह ऊँची बातें नहीं जानता। हाँ, सोने का भाव बड़ा गिर रहा है और मुझे तो कल दिन भर इसी तरह बैठा रह जाना पड़ा।"

"भिक्षु नृसिंह ?"

किसी ने चिल्ला कर कहा।

नृसिंह बौद्ध-श्रमण के गेरुवे भेष में सिंघाटक पर खड़ा था। उसका दाहिना हाथ उठा था। वह कुछ कहना चाहता था।

उसे घेर कर धीरे-धीरे एक भीड़ इकट्ठी हो गई।

उसने कहा—"वैशाली के नागरिकों, तुम राष्ट्र पर कष्ट देख रहे हो। क्या तुम्हें पता है कि अजातशत्रु शीघ्र ही वृजि-संघ पर आक्रमण कर रहा है। उसकी सेनाएँ तैयार हो रही हैं। तथागत को शरीर छोड़े आज तीन वर्ष हुए परन्तु मैं आज उनकी भविष्य में पैठ कर देख लेने वाली दृष्टि को समझ कर आश्चर्य कर रहा हूँ। आज भी क्या राजगृह-मंत्री वर्षकार उन्हें वह उत्तर देगा जो उस दिन उसने दिया था ? क्या वृजि लोग परिषदों में नियम से इकट्ठे होते हैं ? क्या वे एक साथ बैठते, एक साथ उद्यम करते, एक साथ वृजि-कार्यों को निबाहते और वृजि-धर्म, वृजि-चैत्य और अरहतों का आदर करते हैं ? क्या अजात के गुप्तचरों ने हमारी शक्ति को तोड़

नहीं दिया है ? क्या हम अनीति-मार्ग में नहीं फँस गये हैं ? उत्तर दो !"

सब निस्तब्ध थे ।

"ये संघ-राष्ट आज, नहीं कल, नष्ट होंगे। हमने असफलता और नाश का आह्वान किया है। हममें फूट है, घृणा है, द्वेष है ! क्या परिषद् के हाथ दृढ़ हैं ?"

भीड़ में हलचल हुई ।

एक नवयुवक ने बढ़ कर कहा—"परिषद् दोषा नहीं है। युद्ध-जीवी वर्ग भिक्षु बन गया है। आज वैशाली की रक्षा के लिए किसका खड्ग उठेगा।"

नृसिंह की भुजाएँ उत्तेजना से काँपने लगीं। उसने अपने प्रत्येक शब्द पर बल देकर कहा—"बुद्ध का धर्म कायर नहीं है। तुम तथागत का अपमान करते हो।" वह उत्तेजित हो उठा, "हमारा मार्ग दूसरा है। वैशाली का परिषद शस्त्रों को हाथ में लेकर बढ़े, यह एक मार्ग है। उसका मार्ग है। भिक्षु शस्त्र नहीं लेंगे परन्तु शत्रु का प्रतिरोध करेंगे। क्या तुम समझे ? तुम युवक हो न ?"

वह एक क्षण ठहरा ।

"राजनीति और अहिंसा मेल नहीं खाते, तो युवकों को इसका भय क्यों हो ? क्या तुम यह समझते हो कि तथागत के इस पवित्र धर्म के पीछे तुम अपनी नपुंसकता की ओट नहीं दे रहे हो ? युद्ध हो !"

भिक्षापात्र हाथ में लिए और-और भिक्षु उसी सिंघाटक पर आ गये। उनमें अम्बपाली भी थी।

नृसिंह ने कहा—"यह तुम्हारी अम्बपाली है। यह तुम युवकों से क्या चाहेगी ? क्या तुम वैशाली की रक्षा में प्राण नहीं दोगे !"

भीड़ ने ध्वनि की। "अम्बपाली की जय ! देवि की जय।"

अम्बपाली ने करबद्ध होकर उनके स्नेह-सत्कार को स्वीकार किया। नृसिंह ने अपना व्याख्यान रोक दिया।

अम्बपाली ने किंचित ऊँचे स्वर में कहा—"वैशाली के पुरुषों! यह युद्ध शीघ्र ही होगा। घटाएँ छा रही हैं। आज बरसें या कल। समय पड़ने पर हम भिक्षु-भिक्षुणियाँ अपना मार्ग स्थिर कर लेंगे। परन्तु तुम्हें तो युद्ध ही करना होगा। राजनीति में युद्ध, रक्त-पात और षड्यंत्र आवश्यक हैं। वे उसके विशिष्ट अंग हैं।"

वह चुप हो गई। जनता ने जोर से ध्वनि की। "युद्ध होगा। वैशाली के नागरिक प्राण देंगे!"

एक साथ अनेक हाथ ऊपर उठ गये। उनकी बधी मुट्ठियाँ एक विलास और ऐश्वर्य से जीर्ण, गिरते हुए, राष्ट्र की अंतिम दृढ़ता की सूचना देकर गिर गईं।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

बूढ़ा मग्गशिरा धीरे धीरे शय्या से लग गया। वह अपने दुख को किसी दूसरे पर व्यक्त नहीं करता था; परन्तु भीतर-भीतर वह घुल रहा था। कितने दिनों वह आपान के सामने बैठा रहा। पानागार उसने बंद रक्खा।

'क्या तुम अब आपान नहीं खोलोगे?', कोई पूछ बैठता।

बुड्ढा कहता—"अरे, तुम चाहते हो मैं ही पाप कमाता रहूँ। जिसके बेटी-बेटे भिक्खु हो गये, वह क्या दाक्खा का क्रिय करेगा?"

साथ ही व्याकुल कर देने वाली दुखी मुस्कान उसके मुख पर नाच पड़ती।

फिर उसने बाहर निकलना ही बिल्कुल छोड़ दिया। उसके स्वास्थ्य ने उसका साथ न दिया। वह धीरे-धीरे रुग्ण और दुर्बल हो गया।

शरद की चाँदनी रात थी जिसके प्रकाश में उसकी दरिद्र कुटिया का वैभव और भी नगण्य और त्याज्य हो जाता। मग्गशिरा अर्द्ध-

चेतन् अवस्था में पड़ा था। पड़ोस की एक बुढ़िया उसके लिए कुछ बना जाती। वही उसकी सेवा-शुश्रुषा करती। उसका घर जीर्ण हो गया था। उसकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं था। उसके द्वार पर किवाड़ नहीं थे और किसी भी समय कोई उसमें घुस कर अन्दर आ-जा सकता था।

उसे अपनी टूटी शय्या के पास कोई छाया दिखाई दी। उसने धीरे से करवट ली। वह क्या हो सकती थी। सुभागा!

हाँ, सुभागा थी!

"तुम यहाँ कैसे सुभागा!" उसने रोग से क्षीण स्वर में पूछा, "क्या तुम बुड्ढे को मरता देखने आई हो?"

सुभागा बोली नहीं। उसने अपने कौशेय वस्त्र के ऊपर पड़ा उसी रंग का लबादा उतार दिया। बुड्ढे के सिरहाने के पास बैठ कर उसने कहा—"बाबा, मैंने यह बड़ा अपराध किया है। क्या तुम क्षमा करोगे?"

बूढ़ा चुप रहा।

लड़की ने फिर कहा—"कल मैं शिलाजी और जमदग्गी को लेकर आऊँगी। वे भी भिक्खु हो गए हैं।"

बुड्ढे ने उसी क्षीण स्वर में कहा (उसका स्वर आनन्दातिरेक से काँप रहा था)।

"तू आ गई सुभागा बेटी!"

उसने उसके सूखे बालों पर हाथ फेरा। "मैं भी कैसा पागल हूँ, बेटी", उसने कुछ मुस्कराते हुए कहा, "मैंने तुम पर रोष किया। तुम लोग यहाँ से बड़ी दूर तो नहीं थे पर मैं गया नहीं!"

सुभागा ने लज्जित होकर कहा—"और क्या मैं नहीं आ सकती थी, बाबा!...तुमने कुछ खाया या नहीं?"

बुड्ढा मुस्कराया। उसने कहा—"तू कैसी पगली है, बेटी। कल तो तू न जायगी। तू शिलाजी को कह, यहाँ आ जायँ। जमदग्गी को बुला ला। फिर यहीं रह, बेटी।"

"तो तुमने कुछ खाया नहीं, बाबा ?"

"तू यहीं रह जा बेटी।"

"मैं यहीं रहूँगी", सुभागा ने कहा।

दूसरे दिन शिलाजी और जमदग्गी भी आ गये। बूढ़ा धीरे-धीरे स्वस्थ हो गया। अब वह बाहर के चबूतरे पर धूप में जा बैठता। वह कहता—"तुमने देखा है ? मेरी बेटी आ गई है।"

एक दिन लड़की ने आकर उससे कहा—"बाबा, हम संघाराम जा रहे हैं।"

बुड्ढे ने ऐसी आँखों से उसे देखा जो बता रही थीं कि वह उसे समझा नहीं।

"बात क्या है ?" उसने पूछा, "अब तू संघाराम क्यों जा रही है !"

सुभागा ने कहा—"बौद्ध थेरी हूँ मैं, बाबा ! तथागत ने यही उपदेश दिया है। जहाँ दुख है, क्लेश है, कष्ट है, वहाँ थेरी रहेगी। वह तथागत की पुत्री है। उनकी यही करुणा उसे पितृदाय में मिली है। अब मैं किसी दूसरे रोगी को ढूँढूँगी !"

बुड्ढे ने हतप्रभ होकर कहा—"यह तू क्या कहती है, मैं समझता नहीं। तू मुझे छोड़ कैसे जायेगी।"

लड़की ने उसी शांत भाव से कहा—"बाबा, बुद्ध का धर्म किसी को निश्चित बैठने नहीं देता। मुझे जाना है।"

जब वह जाने लगी तो बुड्ढा उनके आगे हो गया। उसने आँखों में ममता के आँसू भर कर कहा—"अरे, तुम लोग क्या बुड्ढे को निकम्मा समझते हो। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा। मैं यहाँ पड़ा-पड़ा क्या करूँ ?"

और फिर यह चारों संघाराम की ओर चले। बुड्ढा लगातार बड़बड़ाता हुआ जा रहा था, सुभागा चुप थी। शिलाजी जमदग्गी को तथागत के जीवन की कोई गाथा सुना रहा था।

जब वह विहार में पहुँचे उस समय भिक्षु और भिक्षुणियाँ नगर के लिए निकल चुकी थीं। राजगृह की सेनाएँ वैशाली के लिए चल पड़ी थीं और वैशाली एक बड़ी फ़ौजी छावनी में बदल गई थी। नगर-द्वारों के पीछे काष्ठ और पकी ईंटों के ढेर लगा कर उन्हें आक्रमण के लिए दृढ़ किया जा रहा था। वैशाली की सेना में दस्यु, मिगलुब्धक, लोहकार और कितने ही नीच श्रेणी के पुरुष भरती किए जा रहे थे। गोपुरों के नीचे उत्सुक जनता इकट्ठी हो जाती और क्षण-क्षण भर बाद पूछती—"क्या राजगृह के सैनिक पास आ रहे हैं ?"

गोपुर के ऊपर से आवाज़ आती—"अभी नहीं। वैशाली की सेना से मार्ग में उनकी भेंट होगी। तुम लोग सेना में नाम क्यों नहीं लिखाते ?"

जनता की टुकड़ियाँ वैशाली राष्ट्र की दूज के चाँद की पताका लिए इधर-उधर घूमती दिखाई देतीं। जनकों के चन्द्रवंश का यह चिन्ह अभी भी चला आता था। वे गातीं—"इस राष्ट्र ने हमें जन्म दिया है, इसने हमें खेल दिये, यौवन के स्वप्न दिये। हमारी भुजाएँ इसकी रक्षा करेंगी! हमारे लम्बे केश हमारे धनुषों की डोरी बनेंगे! वैशाली हमारी माता है, वैशाली के हम ऋणी हैं!"

वैशाली की सेनाएँ युद्ध के लिए बाहर चली गईं थीं। नगर में सेना का एक छोटा-सा भाग रह गया था।

आचार्य प्रबुद्धकेतु पिछले वर्ष कुशिनार चले गए थे। वहाँ तथागत के निर्वाण-प्राप्ति के चिन्ह-स्वरूप एक बड़ा स्तूप बन रहा था। एक विहार और संघाराम भी बन गया और आचार्य वहीं रह-कर उपदेश करते और स्तूप-निर्माण का काम देखते। वैशाली के संघ का काम कुमारगुप्त और नृसिंह को सौंप दिया गया था।

संघ में केवल कुमारगुप्त था। उसने मुस्कराते हुए उनका स्वागत किया।

"सुभागा," उसने कहा, "तुम बड़ी भली लड़की हो। अपने पिता को भी तुम संघ में खेंच लाई ।"

सुभागा मुस्कराई। उसने कहा, "हम सब का श्रेय आपको है। आप न कहते तो मैं उधर जाने का साहस भी नहीं करती। मुझे फिर मोह की बेड़ियों में बँधने का डर था।"

कुमारगुप्त फिर अपने काम में लग गया। आचार्य प्रबुद्धकेतु ने तथागत के मुँह से सुने हुए कुछ उपदेश लिपि-बद्ध किए थे और आजकल वह उन्हीं की प्रतिलिपि कर रहा था।

शाम को जब अम्बपाली, नृसिंह और दूसरे भिक्षु लौटे तो उसने अपने भोजपत्र उठा कर एक ओर रख दिये।

"नगर का क्या हाल है ?" उसने पूछा "लोगों में आतंक है ?" नृसिंह ने कहा। "वैशाली की सेना पहले मोरचे पर हार गई है। इससे आतंक बढ़ गया है। वैशाली की रक्षा बड़ी कठिन है।"

"समस्या बड़ी कठिन है," कुमारगुप्त ने गंभीर होकर कहा, "हमें अपना मार्ग ढूँढ़ना है।"

"लोग भिक्खुओं को दोष दे रहे हैं"।

नृसिंह ने कहा, "वैशाली राष्ट्र की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी जैसे वे स्वयम् कुछ भी नहीं।"

"वे पागल हैं !" कुमारगुप्त उत्तेजित हो गया। "स्वप्न, उन्माद और मदिरा में डूबी हुई वैशाली कितने दिन नहीं लड़खड़ाती। स्वयम् लिच्छिवियों और विदेहों में फूट है। क्या इस समय वे संगठित होकर एक प्रचण्ड शत्रु का सामना कर सकेंगे ! क्या यह सम्भव है ?"

"तुम क्या करने को कहते हो ?"

"अभी मैंने कुछ नहीं सोचा है। परन्तु केवल नागरिकों को संतुष्ट करने के लिये ही तो हम खड्ग नहीं उठा सकते। चाहे वे हमें कायर समझें !"

कई दिन तक वैशाली की सेनायें राजगृह की सेनाओं का सामना करती रहीं। ये दिन वैशाली के लिये बड़े संकट के थे। सेनाओं के हारने के समाचार आते और जनता अधिक-अधिक क्षुब्ध होकर भिक्खुओं को दोष देती।

अम्बपाली इन दिनों कुछ अस्वस्थ थी। उसे कुमारगुप्त की ओर से बड़ी चिन्ता थी। वह अपना अधिक समय आराम में बिताता और जब वह भिक्खु-मंडली में होता तो अधिक नहीं बोलता। अम्बपाली अपने पिछले अनुभव से जानती थी कि वह इस समय चंचल हो रहा है। अजातशत्रु की सेना के वैशाली पहुँचने पर वह न जाने क्या रास्ता पकड़े! वह उसके अंतर्द्वन्द को स्पष्ट देख रही थी।

एक दिन वे सब संघाराम के बाहर एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे बैठे थे। तथागत के हाथ की लगी महाबोधि वृक्ष की यह शाखा अब अपना विशाल छत्र उठाए एक महान् स्मृति-चिन्ह के रूप में खड़ी थी। हेमन्त की दोपहर थी।

अम्बपाली ने कहा—"कल तक मगध की सेना यहाँ आ जायगी। क्यों हम प्राचीरों के भीतर न चले जायें? इससे जनता का आतंक कम हो जायगा।"

कुमारगुप्त के हाथ में वह प्रतिलिपि थी जो उसने आज ही समाप्त की थी। उसने कहा—"नृसिंह, मैं तुम्हारा यह ढंग ठीक नहीं समझता। तुमने जनता को हमारी ओर से इतना आश्वासन क्यों दे रक्खा है? बोलो, भला हम दो-चार हजार भिक्षु-भिक्षुणियाँ खड्ग लेकर सामने भी आये तो क्या कर सकते हैं?"

नृसिंह ने कहा—"एक बार तो हम वैशाली और संघ की प्रतिष्ठा की रक्षा कर सकते हैं। तुम मेरे दस्युओं को नहीं जानते!"

"मैं जानता हूँ!" कुमारगुप्त ने उसी गंभीर स्वर में कहा,—"परन्तु अब क्या हमें इन कौशेय वस्त्रों को पहरे खड्ग लेकर बढ़ना ठीक होगा!"

"तो उपाय क्या है।"

"हम वैशाली के सिंहद्वार के सामने रहें। अजात स्वयम् बौद्ध है। या तो वह हम निरस्त्रों को काट डाले या वैशाली छोड़ दे।"

"यह संभव नहीं है," नृसिंह ने कहा,—"क्या तुम कहते हो इस प्रकार हम अजातशत्रु का हृदय बदल देंगे?"

"मुझे विश्वास है," कुमारगुप्त ने कहा,—"मनुष्य की अस्थि-मज्जा के भीतर मैत्री-भाव की प्रधानता है। हम अपने त्याग से अजात की सेना को निरस्त्र कर सकते हैं!"

"यह तुम्हारी कल्पना है", अम्बपाली ने कहा।

कुमारगुप्त क्षण भर चुप रहा। फिर उसने धीरे-धीरे कहा—"हो सकता है, तुम ठीक कहती हो, अम्बिके। कुमारगुप्त को तुम पहचान सकती हो और नहीं भी पहचान सकतीं। यह मेरी अंतरात्मा की बात थी जो मैंने तुम्हें बताई। शस्त्र लेकर हम अजात की विशाल वाहिनी का प्रतिरोध नहीं कर सकते। एक उपाय है..........जो मैंने तुम्हें बताया।"

इसी समय गोपुरों से तूय बज उठे। सिंहद्वार के ऊपर की बड़ी रण-दुंदभी पर चोट पड़ी और एक बड़ा, गंभीर, भयसूचक शब्द वैशाली और उसके बाहर भर गया।

"वैशाली आत्मरक्षा के लिए तैयार हो रही है", नृसिंह ने कहा—"मैं ऐसे समय खाली नहीं बैठ सकता। क्या हम प्राचीर के भीतर हो जाएँ?"

कुमारगुप्त ने कहा—"तुम मुझे यहीं छोड़ दो। मुझे न तुम से काम है, न वैशाली से, न अजातशत्रु से। यहां संघाराम में उसकी सेना कोई उपद्रव नहीं करेगी।"

नृसिंह ने उठते हुए कहा—"अम्बपाली, तुम यहीं कुमारगुप्त के पास रहना। मैं समझता हूँ मेरा नगर में रहना आवश्यक है। मैं जनता को यह नहीं समझने दूंगा कि बुद्ध के अनुयायी कायर हैं!"

"क्या तुम सशस्त्र विरोध करोगे ?"

"हाँ" नृसिंह ने कहा—"राष्ट्र को स्वतंत्रता व्यक्ति के धर्म के ऊपर है। तथागत के धर्म को मैंने अपने ढंग पर समझा है। जब सहस्रों प्राणियों के भाग्य का सम्बन्ध हो तो नृसिंह चुप नहीं बैठ सकता !"

वह उनसे बिदा लेकर संघाराम की ओर चला गया।

एक अश्वारोही उनकी ओर आता दिखाई दिया। वह सूर्यमणि था। उसने उनके पास पहुँच कर कहा—"क्या आपके संघ के सदस्य नगर के बाहर रहेंगे !"

"हाँ," अम्बपाली ने कहा।

"परन्तु यह बात आपत्ति-जनक है। वैशाली के नागरिक के नाते राष्ट्र को आपकी रक्षा की बात सोचनी है।"

'यहाँ संघ में कोई उपद्रव नहीं होगा। यह स्थान वैशाली से अधिक निरापद है।" कुमारगुप्त ने कहा।

"अभी कुछ देर में सिंहद्वार बंद हो जायगा। हमें शीघ्रता करनी है।" उसने अम्बपाली की ओर झुक कर चिन्ता के स्वर में कहा—"चन्द्रसेना अपने बालक की रक्षा के लिए दुखी हो रही है।"

"तुम उसे संघ में भेज दो," अम्बपाली ने कहा,—"यहाँ वह और उसका बालक निरापद रहेंगे।"

"और राष्ट्र के और नागरिक क्या कहेंगे। यह संभव नहीं है, अम्बपाली। यह संभव है, इस युद्ध में मुझे प्राण देना हो। तब तुम और कुमारगुप्त चन्द्रसेना और उसके बालक को देखना।" उसकी आँखों में एक आँसू झूल उठा। उसे छिपाने के लिए उसने अपने घोड़े को एकदम मोड़ दिया और तेज चाल से सिंहद्वार की ओर बढ़ गया।

कुमारगुप्त ने अम्बपाली से कहा—"चलो, संघ में चलें! यह जो व्यक्ति प्राचीर पर इधर-उधर दौड़ रहा है, जिसके हाथ में राष्ट्र-पताका है, यह क्या नृसिंह है ?"

"हाँ, उसी की रूप-रेखा है।" अम्बपाली ने चिन्ता के स्वर में कहा।

उनतीसवाँ परिच्छेद

उस दिन और रात भर आक्रमण का डर लगा रहा। दूसरे दिन राजगृह की विजयी सेना वैशाली की ओर बढ़ती हुई दिखाई दी। रात को पिछले पहर बीतने पर संघ में एक व्यक्ति आया। उसने कहा—"मैं सार्थवाह हूँ। हमारा सार्थ नगर के पश्चिम की ओर शिवरों में पड़ा है।"

कुमारगुप्त ने पूछा—"आप लोग कहाँ से आ रहे हैं ?"

"मैं शाकल से आता हूँ", उसने कहा, "वैशाली के पश्चिमी द्वार पर मगध की सेना का आक्रमण होगा, यह जान पड़ता है। उधर अधिक सैनिक नहीं हैं। प्रधान सेना इधर नहीं आयेगी। क्या आप हमारे सार्थ को संघाराम में स्थान देंगे ?"

कुमारगुप्त सोच में पड़ गया।

उस व्यक्ति ने कहा—"यदि यह समाचार वैशाली के भीतर पहुँच जाय, तो सम्भव है, वैशाली थोड़े दिन और स्वतंत्र रह सके……आप हमारे लिए क्या कहते हैं ?"

"आपका सार्थवाह यहाँ ठहर सकता है," कुमारगुप्त ने चिंतित स्वर में कहा, "यहाँ कोई उपद्रव नहीं होगा।"

जब वह व्यक्ति चला गया तो कुमारगुप्त अम्बपाली के पास गया। उसने उसके कक्ष में झाँका। अम्बपाली की शय्या के पास दीपक जल रहा था और उसके उजाले में उसके मुख की चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट हो जाती थीं। उस मुख में कितना गहरा आकर्षण है, यह बात आज फिर कुमारगुप्त ने खोज ली। क्षण भर खड़ा रह कर वह उसे देखता रहा। फिर उसने दस्तक दी। अम्बपाली बड़ी रात

गए सोई थी परंतु उसकी नींद बार-बार उचाट खा जाती थी। वह जाग गई।

उसने अलसाए हुए नेत्रों को मींजते हुए बाहर निकल कर कुमारगुप्त को देखा। । अपने होठों पर मंद मुस्कराहट लाते हुए उसने कहा—"क्यों ? क्या तुम रात भर जागते रहे हो ?"

कुमार गुप्त ने कहा—"अभी एक सार्थवाह आया था ! साथ में व्यापारी होंगे। उन्हें संघ में शरण देना है। इस समय तुम्हें वैशाली जाना होगा। आक्रमण के डर से सिंहद्वार बंद है, अतः दूसरा व्यक्ति वहाँ जा न सकेगा। तुम्हें वहाँ यह कहना है कि सिंहद्वार पर आक्रमण होने की इतनी आशंका नहीं है। अजात की सेना पश्चिमी द्वार पर इकट्ठी हो रही है। तुम्हें सतर्क रहना चाहिए।"

अम्बपाली मौन रही। फिर उसने कहा—"तुम स्वयम् क्यों नहीं चले जाते। मुझे तुम्हारी ओर से भय है। तुम क्या करना चाहते हो ?"

किञ्चित मुस्करा कर कुमारगुप्त ने कहा—"तुम्हारी चिन्ता व्यर्थ है। मैं यहाँ संघ-भवन में शाँति से रहूँगा। मेरा यहाँ रहना आवश्यक है !"

"क्या मैं लौट आ सकूँगी ?" अम्बपाली ने पूछा।

"यह मैं नहीं जानता," कुमारगुप्त ने कहा—"अजात की सेना अभी कहाँ है, यह मुझे पता नहीं। कौन कह सकता है कि वह सिंहद्वार पर आयेगी या नहीं। वैशाली के नागरिक के नाते हमारा-तुम्हारा जो कर्त्तव्य है वह पूरा हो जायगा जब तुम वैशाली के भीतर यह संदेश पहुँचा दोगी।"

अम्बपाली उसके साथ संघ-भवन से बाहर निकल आई। उसने उधर देखा—गोपुरों और सिंहद्वार के ऊपर बड़ी चहल-पहल है। उनका तेज प्रकाश आँखों में चकाचौंध पैदा करता है। कुमारगुप्त से विदा लेते हुए उसने कहा—"मेरा चित्त ठीक नहीं है, कुमारगुप्त। मैं शीघ्र ही वहाँ से लौटूँगी। न जाने कौन मेरे भीतर बैठा कह रहा है,

वहाँ जाने में मंगल नहीं है। क्या तुम किसी दूसरे को नहीं भेज सकते ?"

"नहीं", कुमारगुप्त ने धीरे से कहा। अम्बपाली धीरे-धीरे रात के पिछले पहर के धुँधले अन्धकार में डूब गई। कुमारगुप्त देर तक उसी ओर देखता रहा। फिर वह संघ भवन में लौट आया।

थोड़ी देर बाद रण-वाद्य बजने लगे। अजातशत्रु की सेना का एक अश्वारोही भाग वैशाली के सिंहद्वार की ओर बढ़ रहा था।

दिन चढ़ आया था। सिंहद्वार पर आक्रमण हो रहा था। गोपुरों से अश्वारोही सेना पर तीरों की भीषण वर्षा हो रही थी और कदाचित इसी कारण मगध की सेना सिंहद्वार को तोड़ नहीं सकी थी। सिंहद्वार के सामने जो खाई थी उसे लकड़ी के लट्ठों से उस स्थान पर पाट दिया गया था और बड़े-बड़े शहतीरों की चोटों से द्वार को निर्बल किया जा रहा था। वैशाली के मिगलुब्धक और नृसिंह के दस्यु अच्छे धनुर्विद सिद्ध हुए।

परन्तु धीरे-धीरे द्वार निर्बल हो चला।

सहसा संघ-भवन से निकल कर भिक्खुओं का एक बड़ा झुन्ड सिंहद्वार की ओर बढ़ता हुआ दिखाई दिया। कुमारगुप्त उसकी नेतृत्व कर रहा था।

उन्होंने अपने को द्वार और मगध अश्वारोहियों के बीच में डाल दिया! उनके दोनो हाथ ऊपर उठे हुये थे।

अश्वारोहियों के नायक ने आकर कहा—"भिक्खुओं, यह क्या ? तुम क्या चाहते हो ?"

आगे आकर कुमारगुप्त ने कहा—"हम युद्ध का विरोध करते हैं। हम तथागत के पुत्र हैं। तथागत के मैत्रा-संदेश के प्रचार के लिए हमें प्राण देने में भी कोई आपत्ति नहीं है।"

नायक ने कहा—"मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम सेनाध्यक्ष किशोरगुप्त के भाई हो। राजगृह का तुम्हारे ऊपर ऋण है। क्या

तुम इसे इसी तरह चुकाओगे ?............भिक्षुओं का राजनीति में भाग लेना ठीक नहीं !"

ऊपर गोपुरों पर हलचल थी। वैशाली के कितने ही राजपुरुष वहाँ आ गये थे।

सिंहद्वार के ऊपर के गोपुर पर आकर नृसिंह ने जोर से कहा—"यह क्या बचपन करते हो, कुमारगुप्त ? वैशाली की प्रजा अन्त समय तक अपनी आत्म-रक्षा करेगी। वह निरीह भिक्खुओं की हत्या का पाप अपने ऊपर नहीं लेगी !"

सेनानायक ने उसकी ओर देख कर मुस्करा कर कहा—"यह लो, अब भिक्खु खड्ग लेकर युद्ध के लिए उतर आये हैं।"

नृसिंह ने फिर कहा—"यह तुम्हारा दुराग्रह-मात्र है कुमारगुप्त। इससे वैशाली के अनिष्ट की संभावना है।"

कुमारगुप्त ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। उसने कहा,—"भिक्खुओं, इस युद्ध की वृत्ति के विरुद्ध हमने यह निश्चय किया है कि हम इस स्थान से हटेंगे नहीं। या तो राजगृह के सैनिक हमारी हत्या करें या वैशाली छोड़ कर चले जाएँ। परतंत्रता-सा भयानक पाप इस संसार में दूसरा नहीं है। मगध वैशाली को परतंत्र बना कर उसकी आत्मा की हत्या कर रहा है। वैशाली और वृजि-संघ के सहस्रों-सहस्रों प्राणियों के जीवन को हम ज्वाला में झुलसने के लिये फेंका जाता नहीं देख सकते। भिक्षुओं, हम युद्ध के विरुद्ध सत्याग्रह कर रहे हैं। हमें तथागत के धर्म की नई ज्योति से अन्धकार का दाह करना है।"

भिक्खुओं ने ध्वनि की। "तथागत की जय !"

सेनानायक ने आगे बढ़ कर कहा—"मुझे सिंहद्वार पर आक्रमण करने का आदेश है। भिक्खु हट जायें। राजगृह के सैनिक अरहतों पर हाथ नहीं डालते परन्तु अरहतों की आड़ में युद्ध करना वैशाली की सेना के ऊपर लाच्छन लगा देगा।"

ऊपर गोपुरों की ओर देख कर वह मुस्कराया।

सहसा सिंहद्वार के बुर्ज के ऊपर अम्बपाली दिखाई दी। उसने पुकारा—"भिक्खुओं!"

सभों ने उसकी ओर देखा।

उसके सौन्दर्य ने सब को मुग्ध कर दिया। अपने गेरुवे वस्त्र में दोपहर के प्रकाश में वह सचमुच शांति की देवी-सी लग रही थी।

उसने कहा—"भिक्खुओं, वैशाली की प्रजा युद्ध के लिए तैयार है। जहाँ तक संभव होगा, वह आत्म-रक्षा करेगी। उसके साहस की परीक्षा है। फिर उसने अपने उत्तरदायित्व को समझ लिया है। इस प्रकार प्राण देना ठीक नहीं है!"

इसी समय ऊपर के किसी गोपुर से फेंका हुआ एक तीर सेनानायक के शिरस्त्राण में लगा और वह झोंक में आकर गिरते-गिरते बचा।

उसने चिल्ला कर कहा—"भिक्खुओं, यहाँ से हट जाओ। मैं निरीहों की हत्या नहीं चाहता!"

कोई हटा नहीं। अम्बपाली गोपुर से नीचे उतर गई।

सेनानायक ने चिल्ला कर फिर कहा—"भिक्खुओं, सिंहद्वार का मार्ग छोड़ दो।"

और जब सब उसी तरह शांत रहे तो उसने आक्रमण की आज्ञा दी। सैनिकों के घोड़े बढ़े और वे भिक्खुओं की उस भीड़ के पास जा कर रुक गये।

सेनानायक चिल्लाया।

"आक्रमण करो!"

उसका स्वर गूँज गया।

एक घोड़े का धक्का खा कर कुमारगुप्त गिरते-गिरते बचा। उसने शीघ्र ही सँभल कर अपना स्थान ले लिया।

ऊपर से तीरों की बौछार आई और कितने ही अश्वारोही घायल हो कर गिरे।

कुमारगुप्त ने गोपुरों की ओर हाथ उठा कर कहा—"अभी युद्ध रोक दो। तुम वैशाली का अनिष्ट कर रहे हो।"

परन्तु उसी समय अश्वारोहियों ने द्वार पर फिर आक्रमण किया और इस बार भिक्खुओं की दीवार उन्हें रोक न सकी। इस भीषण आक्रमण में भिक्खु कुचले जाने लगे।

नृसिंह का स्वर ऊँचा उठता हुआ सुनाई दिया। उसने वैशाली के सेनानायक को चिल्ला कर पुकारा—"रोक दो, रोक दो"—उसने चिल्ला कर कहा—"यह तुम भिक्खुओं की हत्या कराओगे।"

सेनानायक भीमसेन ने क्षुब्ध हो कर कहा—"यह नहीं हो सकता। जब तक वैशाली में सामर्थ्य है, तब तक वह लड़ेगी। यों सिंहद्वार टूट जायगा।"

दोनों ओर से युद्ध चलता रहा।

उसी समय दूर से तूर्य बजते हुए आये और एक टुकड़ी के साथ राजगृह का प्रधान सेनाध्यक्ष युद्ध-स्थल पर आ गया।

"युद्ध रोक दो," उसने कहा!

युद्ध रुक गया। ऊपर भी बाणों की वर्षा बंद हो गई।

सेनाध्यक्ष किशोरगुप्त ने आगे बढ़ कर कहा—"हमने वैशाली पर विजय पाई है। पश्चिम के द्वार से हमारे आदमी नगर में पहुँच गए हैं। अब निरीह भिक्खुओं की हत्या करना ठीक नहीं है।"

भिक्खुओं को चिल्ला कर कहा—"तथागत की जय हो!"

किशोरगुप्त कुमारगुप्त के पास पहुँच गया था। वह घोड़े से उतर पड़ा। उसने बड़े भाई के पैर छुए। कुमारगुप्त के मुख पर भीषण अन्तर्वेदना की छाया थी।

उसने उसे आशीर्वाद दिया। पीछे मुड़ कर उसने भिक्खुओं से कहा—"भिक्खुओं, हमने अपने धर्म का पालन किया। हमें यही संतोष है। हमें शोक है कि बौद्ध राष्ट्र इस प्रकार युद्ध करते हैं। इस जय-लिप्सा से तथागत के धर्म की शक्ति क्षीण हो जायगी। क्या हम मैत्री भाव से नहीं रह सकते?"

उसके पैर लड़खड़ा गए। किशोरगुप्त ने उसे बाहुओं में थाम लिया। कुमारगुप्त निढाल हो कर उस पर गिर पड़ा।

उसने कहा—"मेरी छाती में बाण लगा है। मैंने उसे निकाल कर फेंक तो दिया परन्तु मैं अब अधिक देर तक जीवित नहीं रहूँगा।"

उसने छाती से अपना हाथ हटाया। रक्त की धारा बह चली। मर्मांतक वेदना से वह पीला पड़ा जा रहा था।

"मुझे संघाराम ले चलो", उसने कहा।

किशोरगुप्त रो पड़ा। उसने कहा—"भाई मुझे क्षमा करना। मैं ही तुम्हारी हत्या का कारण हूँ।"

कुमारगुप्त ने उस पर और झुकते हुए कहा—"यह क्या कहते हो, भाई। तुमने अपना कर्त्तव्य निभाया। मेरे लिए यह जीवन-चक्र आज समाप्त हो गया था। इसका करण-कारण कोई भी नहीं है। तुम वैशाली के नागरिकों को कष्ट नहीं देना। कुमारगुप्त अपने जीवन के सब से सुन्दर दिनों में उनका अतिथि रहा है।" फिर उसने भिक्खुओं की ओर मुड़ कर कहा—"मुझे संघ-भवन ले चलो। जो भिक्खु आहत हुए हैं, उन्हें भी।"

किशोरगुप्त ने उसे भुजाओं में भर लिया और भिक्षुओं के पीछे-पीछे उसे उठाए हुए वह संघाराम की ओर चल पड़ा।

तब तक सिंहद्वार खुल चुका था। दोनों ओर के सैनिक हथियार डाले भिक्खुओं के पीछे चल रहे थे। सब के पीछे नृसिंह, उसके दस्यु और अंबपाली थी। वह नृसिंह का सहारा लिए चल रही थी।

संघाराम में ले जा कर कुमारगुप्त को उसके कक्ष में लेटा दिया गया। वह अचेत हो गया था। रक्त बह जाने के कारण उसकी नाड़ी की गति भी बहुत क्षीण हो रही थी।

उसी समय किसी ने कहा—"महाराज अजातशत्रु इधर आ रहे हैं!" साथ ही कुमारगुप्त ने आँखें खोल कर अपने चारों ओर देखा। फिर उसने धीरे से किशोरगुप्त से कहा—"अम्बपाली कहाँ है? उसे बुलाओ।"

तीसवाँ परिच्छेद

अम्बपाली को कुमारगुप्त के अन्तिम शब्द अब भी याद थे। उसने कहा था—"छिः, तुम रोती हो अम्बपाली! बुद्ध के धर्म में मृत्यु, निराशा और अवसाद है ही नहीं। यह जो मैंने किया उसके लिए न मैं दोषी हूँ, न मुझे श्रेय मिलेगा। तथागत की इच्छा! मैं तथागत के धर्म को तुम्हारे हाथ में दिए जाता हूँ। तुम्हारे द्वारा यह सहस्रों दुखी प्राणियों को पहुँचेगा।"

अम्बपाली व्याकुल हो उठी।

कुमारगुप्त ने मुस्कराहट ला कर कहा—"इसमें दुखी होने की बात नहीं है, अम्बिका! तुमने मेरे सारे जीवन का पथ प्रदर्शन किया है। तुमसे मिलने के बहुत वर्ष पहले गान्धार में मेरी तुमसे भेंट हो चुकी थी। तुम सदा से मेरी साथी रही हो, सदा मेरी साथी रहोगी। यह मृत्यु उन दो आत्माओं को, जो प्रेम और कर्त्तव्य के बंधन द्वारा मिल गई हैं, विलग नहीं कर सकती। देखो, दुखी न होना……"

एक वर्ष बाद जब संघ का काम फिर निश्चित गति से चलने लगा तो अम्बपाली ने एक दिन नृसिंह से कहा—"इस वैशाली से मेरे जीवन के कितने कुछ सुख-दुख लगे हैं। क्या हम इसे छोड़ कर और कहीं नहीं जा सकते? इससे मुझे शांति मिलेगी। और यहाँ का प्रचार-कार्य भी समाप्त हो चुका है!"

"तो कहाँ चलें?"

"जहाँ लोग तथागत के धर्म से परिचित नहीं हों। किसी दूर के राष्ट्र में चलो!"

नृसिंह थोड़ी देर सोचते रहे। फिर उन्होंने कहा—"यह ठीक है। यहाँ का काम शिलाजी को सौंप दो। अब यह काम व्यवस्थित हो गया है। हमारे साथ कौन रहेंगे?"

"तुम जिन्हें समझो", अम्बपाली ने अन्यमनस्क भाव से कहा, "भैरवी मेरे साथ चलने को कहती थी।"

नृसिंह गंभीर हो गया। उसने कहा, "हाँ, उसे ले चलो। उस युवक को मैंने उस दिन प्राणरक्षा की थी, उस दिन वह न होता तो मैं इस संसार से चला गया होता। मेरे आगे बढ़ कर उसने छाती पर खड्ग सहा!"

अम्बपाली ने कहा—"इस भैरवी को मैं जब देखती हूँ तो मुझे अपना दुख भूल-सा जाता है। प्रचंड की मृत्यु ने इसे पागल बना दिया है!······तब हम तीन रहे?"

नृसिंह ने कहा—"हमें कहाँ जाना है, यह तो कोई निश्चित है ही नहीं। फिर अपने साथ भीड़ लेकर क्या होगा। चलो, किसी दूर प्रांत में चलें जहाँ तथागत के भक्त अब तक न पहुँचे हों। फिर दुख कहाँ नहीं है, क्लेश कहाँ नहीं है, कष्ट कहाँ नहीं है? जहाँ ये हैं वही स्थान हमारा क्षेत्र है। फिर भी वैशाली को छोड़ देना ठीक होगा।"

अम्बपाली उदास हो रही थी। वह न जाने क्या सोच रही थी। उसने धीरे से कहा—"हमें आर्य कुमारगुप्त के काम को पूरा करना है। मैं दुखी नहीं हूँगी। उनका ऐसा ही आदेश था। नृसिंह, मैं उन्हें अब भी अपने साथ देख रही हूँ। मैं उनका स्पर्श अनुभव करती हूँ।"

नृसिंह ने उसके कंधे पर धीरे हाथ रक्खा। उसने कहा—"तुम दुखी हो रही हो, अम्बपाली! धर्म के मार्ग में प्राण उत्सर्ग करनेवाले की मृत्यु नहीं होती। वह सीधा निर्वाण-पद पाता है। आर्य कुमारगुप्त ने तथागत का लोक पाया है। आओ, हम उनके जीवन से दीप्ति लें, उनके दिखाए मार्ग पर बढ़ें। श्रांति और अवसाद का मार्ग बौद्ध का मार्ग नहीं है।"

तभी भैरवी उनके पास आई। उसकी आँखें लाल हो रही थीं और उनमें ऐसा भाव भरा था जैसे वह इस लोक में हो ही नहीं। वह आकर उन दोनों के सामने खड़ी हो गई।

अम्बपाली ने उसको भुजाओं में भर लिया। उसे उसी तरह अङ्क में लिए उसके बिखरे बालों पर हाथ फेरते हुए उसने कहा—

"चलो, चलो भैरवी ! हम दोनों दुखी हैं। हम यहाँ से दूर चलें जिससे यह दुख भूल जाये।"

भैरवी मुँह उठाए उसकी ओर एकटक देख रही थी, जैसे वह यह सब कुछ समझती नहीं हो।

अम्बपाली ने उसके गाल थपथपाते हुए कहा—"बेचारी लड़की समझ नहीं रही है।"

नृसिंह ने करुणा से उसकी ओर देखते हुए कहा—"देवि, बुद्ध का धर्म दीन-दुखियों-पापियों का धर्म है। तथागत के चरणों में विश्वास करो। वह हमें शांति देंगे।"

अम्बपाली उन्हें लेकर संघ की ओर बढ़ने लगी। जहाँ वह थे, वहाँ धूप आ गई थी।

उसने कहा—"पहले हम कुशिनार चलें। आचार्य से मिल कर तब हम कहीं चल पड़ेंगे। हमें कुछ लेना तो नहीं है।"

दूसरे दिन अभी सूर्य अधिक ऊपर नहीं उठा था कि नृसिंह, अम्बपाली और भैरवी संघाराम के द्वार से निकलते हुए दिखाई दिये। उनके पीछे शिलाजी, सुभागा और कितनी ही थेर-थेरियाँ। नगर की जनता उनको बिदा देने के लिए रात के पिछले पहर से इकट्ठी हो रही थी। उसने हर्ष से चीत्कार किया—"देवि अम्बपाली की जय !"

अम्बपाली ने नतमस्तक होकर जनता के जय-नाद का स्वागत किया।

वे बोधि-वृक्ष के नीचे जाकर रुके।

नृसिंह ने कहा—"तथागत के हाथ से लगी हुई यह शाखा आज कालान्तर में इस महान वट के रूप को प्राप्त हुई है। तथागत का धर्म इसी तरह अनेक शाखाओं में फैल कर प्राणी-मात्र के ऊपर छाया करेगा। हम इसे प्रणाम करें !"

सहस्रों सिर उस बोधि वृक्ष के नीचे नत हो गए और जन-कंठ का जय-रव गूँज उठा।

"तथागत की जय! महाबोधि-सत्य की जय! बोधि-वृक्ष की जय!"

नृसिंह ने उपस्थित जनता को उपदेश दिया। फिर भिक्षुओं की ओर मुड़ कर उन्होंने कहा—"भिक्षुओं, तथागत ने कहा है—चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहियात बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देव मनुस्सानं। तथागत के पुत्रों, हम तथागत के इस आदेश का पालन करते हैं। कल तुम्हें हमारा अनुसरण करना होगा। तथागत के धर्म का उपदेश देते हुए हम देश-देशान्तर घूमेंगे। तथागत हमें मार्ग दिखाएँ। संघ की प्रतिष्ठा थेर-थेरियों के हाथ में है। वैशाली का भिक्षुसंघ तथागत के आदेशों पर दृढ़ रहे।"

वे चलने लगे। जनता और भिक्खु भिक्खुणियाँ उनके पीछे चलीं। नृसिंह ने मुड़ कर कहा—"भिक्खुओं को राजकीय समारोह के साथ बिदा होना शोभा नहीं देता। आप लौट जाएँ। आप सब का स्नेह हमारे साथ रहेगा।"

वह मुस्कराया।

धीरे-धीरे जनता पीछे छूट गई। भिक्खु संघ-भवन की ओर लौट रहे थे।

वे कुछ दूर और आगे बढ़ गए।

उनके पीछे एक रथ का शब्द हुआ। अम्बपाली ने मुड़ कर पीछे देखा। उसने कहा—"यह क्या सूर्यमणि हैं!"

"हाँ। आर्य सूर्यमणि और चन्द्रसेना", नृसिंह ने मुड़ कर उधर देखते हुए कहा।

वे सूर्यमणि और चन्द्रसेना ही थे। चन्द्रसेना की गोदी में उसका डेढ़ वर्ष का बालक था।

उनके पास आकर सूर्यमणि ने रथ रोका।

वे उतरे।

चन्द्रसेना ने बालक को अम्बपाली की गोद में डाल दिया। वह

स्वयम् कुछ नहीं बोली। उसका कंठ भर रहा था। अम्बपाली ने बच्चे को चुमकार कर उसे फिर चन्द्रसेना को दे दिया।

मंद-मंद मुस्कराते हुए उसने कहा—"एक दिन मैंने तुमसे ईर्ष्या की थी, चन्द्रसेना। आज फिर मैं तुमसे ईर्ष्या करती हूँ। सूर्यमणि (वह सूर्यमणि की ओर मुड़ी) इस बालक और चन्द्रसेना को प्यार से रखना।"

सूर्यमणि की आँखें भीग रही थीं। उसने कहा—"यही चन्द्रसेना तो तुम्हारी स्मृति है, देवि! वैशाली की आँखों में इतने आँसू नहीं हैं कि वह तुम्हारे ऋण को चुकाए। अम्बपाली, मैं परतंत्र नगर का नागरिक हूँ। मुझे कितनी लज्जा है। मैं इन जंजीरों को नहीं तोड़ सका।" वह मुस्कराया "देवि, तुमने मुझे इन कठिन जंजीरों में क्यों बाँध दिया?"

उसने बालक और चन्द्रसेना की ओर देखा।

अम्बपाली ने बालक के गाल छूते हुए कहा—"यह बालक तुम्हारी कविता की तरह ही सुन्दर है। इसे आर्य कुमारगुप्त की कथा बताना।"

ऐसा कहते हुए उसकी आँखें भर आईं।

नृसिंह ने उनसे विदा ली! सूर्यमणि ने रथ से एक वीणा उतार कर उन्हें दी। उसने कहा—"यह चन्द्रसेना का उपहार है!"

चन्द्रसेना भैरवी की ओर देख रही थी जो कभी उसके बालक की ओर देखती थी, कभी दूर उगते सूर्य की ओर।

नृसिंह ने उन्हें प्रणाम करते हुए वीणा ले ली। उसने उसे कंधे पर रख लिया और फिर भैरवी का हाथ पकड़ कर कहा—"यह गूँगी क्या अब बोलेगी? चलो अम्बपाली, हमारे सामने विशाल क्षेत्र पड़ा है।"

उन्हें पीछे छोड़ कर ये तीनों आगे बढ़े।

आगे-आगे नृसिंह और भैरवी। नृसिंह के कंधे पर पाथेय की एक पोटली और वीणा। वह भैरवी का हाथ पकड़े हुए चल रहा था। उनके पीछे अम्बपाली थी। उसके हाथ में तथागत के उपदेशों की वह पुस्तक थी जिसकी पांडु-लिपि कुमारगुप्त ने तैयार की थी। कुमार-गुप्त का यही चिन्ह उनके साथ जा रहा था। वह बहुत धीरे-धीरे चल रही थी। जैसे वह किसी भार से दबी जाती हो।

भैरवी बार-बार पीछे मुड़ कर सूर्यमणि, चन्द्रसेना और उनके बालक को देखती जाती थी। वह रथ के पास खड़े हुए उन्हें देख रहे थे।

वैशाली धीरे-धीरे पीछे छूटी जा रही थी।